प्रकाशक:
अखण्ड परमधाम
सप्त सरोवार, हरिद्वार (उत्तर प्रदेश)
पिन: 249410
दूरभाष - 0133-426305

संकलन
आरती धवन

सम्पादन एवं प्रस्तुतीकरण
डा० नारायण प्रसाद

प्रथम संस्करण - १९९९
प्रतियाँ : 3000

लेजर टाइप सैटिंग:
सुदेश अग्रवाल, दिल्ली दूरभाष:5477362

अजन्ता ऑफसेट प्रिन्टर्स
१/९८, गली नं. २, इन्डस्ट्रीयल एरिया
विश्वास नगर, दिल्ली-३२
फोन : २२०५०२९

विषयानुक्रमणिका

प्राक्कथन

उपनिषद् अध्यात्म अर्थात् ब्रह्मविद्या के मूल श्रोत हैं। समस्त वेदों अर्थात समस्त ज्ञान का चरमसत्य उपनिषदों में अभिव्यक्त हुआ है। वेद का अन्तिम भाग होनें से इसे वेदान्त भी कहा जाता है। उपनिषद् सम्पूर्ण मानव जाति के लिये सर्वश्रेष्ठ ग्रन्थ हैं। विभिन्न सम्प्रदायों के लोग - शैव, वैष्णव, शाक्त - सभी उपनिषदों की प्रामाणिकता को स्वीकार करते हैं। भगवान कृष्ण के मुख से निकली गीता भी उपनिषदों का ही दुग्धामृत है-

सर्वोपनिषदो गावो दोग्धा गोपालनन्दनः।
पार्थो वत्सः सुधीर्भोक्ता दुग्धं गीतामृतं महत्॥

उपनिषद् में वर्णित ब्रह्मविद्या ऋषि चेतना-लब्ध (मन की अधीनता से मुक्त सम्यक्-प्रवुद्ध मानव चेतना) तत्त्वानुभूति पर आधारित है। यह कोई कल्पना न होकर जीवन का परम सत्य है। आधुनिक विज्ञान के नवीनतम अनुसन्धानों में यह प्रमाणित हुआ है कि अध्यात्म विद्या एक समग्र विज्ञान है। क्वांटम सिद्धांत के निष्कर्प उपनिषदों में वर्णित सत्य की ही पुष्टि करते हैं।

उपनिषदों में प्रतिपादित सिद्धांतों की परम सत्यता एवं सार्वभौमिकता से अनेक पाश्चात्य विद्वान् प्रभावित हुए। दाराशिकोह ने उपनिषदों का फारसी में अनुवाद कराया। जर्मनी के प्रसिद्ध विद्वान् शोपेनहर ने उपनिषदों की प्रशंसा करते हुए लिखा है -

"सम्पूर्ण विश्व में उपनिषदों के समान जीवन को ऊँचा उठाने वाला कोई दूसरा अध्ययन का विषय नहीं है। उनसे मेरे जीवन को शान्ति मिली है। उन्हीं से मुझे मृत्यु में भी शान्ति मिलेगी।" उपनिषदों में वर्णित सिद्धांतों का उल्लेख करते हुए उन्होंने आगे कहा है[1],

"ये सिद्धांत ऐसे है जो एक प्रकार से अपौरुपेय ही हैं। ये जिनके मस्तिष्क की उपज हैं, उन्हें निरे मनुष्य कहना कठिन है।"[2]

उपनिषदों की महिमा पर मुग्ध होने वाले कुछ अन्य महत्वपूर्ण विद्वानों के कथन इस प्रकार हैं -

---

1. "In the Whole word, there is no study so elevating as that of Upnishads. It has been the solace of my life. It will be the solace of my death."
2. "Almost superhuman conceptions whose originators can hardly be said to be mere men."

"उपनिषदों के भीतर जो दार्शनिक कल्पना है, वह भारत में तो अद्वितीय है ही, सम्भवतः सम्पूर्ण विश्व में अतुलनीय है।"[3]

"मानवीय चिन्तना के इतिहास में पहले पहल वृहदारण्यक उपनिषद् में ही ब्रह्म अथवा पूर्ण तत्त्व को ग्रहण करके उसकी यथार्थ व्यन्जना हुई है।"[4]

"अब हम पूर्व की ओर उनमें भी शिरोमणिस्वरूपा भारतीय साहित्यिक एवं दार्शनिक महान कृतियों का अवलोकन करते है, तब हमें ऐसे अनेक गम्भीर सत्यों का पता चलता है जिनकी उन निष्कर्षों से तुलना करने पर, जहाँ पहुँचकर यूरोपीय प्रतिभा रुक गयी है, हमें पूर्व के तत्त्वज्ञान के आगे घुटना टेक देना पड़ता है।"[5]

"पूर्वी आदर्शवाद के प्रचुर प्रकाशपुन्ज की तुलना में यूरोपवासियों का उच्चतम तत्वज्ञान ऐसा ही लगता है, जैसे मध्यान्ह सूर्य के व्योमव्यापी प्रताप की पूर्ण प्रखरता में टिमटिमाती हुई अनलशिखा की कोई आदि किरण, जिसकी अस्थिर और निस्तेज ज्योति ऐसी हो रही हो मानो अब बुझी कि तब।"[6]

उपनिषदों की उपरोक्त महिमा को सुनकर हम गौरवान्वित अनुभव तो कर सकते हैं परन्तु उपनिषद् प्रतिपादित परमसत्यानुभूति के बिना हमारे जीवन में कृतकृत्यता, कृतार्थता तथा

---

3. "Philosophical conceptions unequalled in India, or perhaps anywhere else in the world"

   - Paul Dehssen in Philosophy of Upnishadas

4. "Brahman or Absolute is grasped and definitely expressed for the first time in the history of human thoughts in the Brahadaranyaka Upnishada."

   - Macdalons in Philosophy of Upnishadas

5. When we read the poetical and philosophical monuments of the east, above all those of India, we discover there many truths so performed and which make such a contrast with the result at which the European genius has sometimes stopped that we are constrained to bend the knee before the philosophy of the east.

   - Victor Cousins in 'Francis Philosophy'

6. "Even the loftiest philosophy of the Europeans appears in comparison with the abundant light of oriental idealism like a feeble promethean spark in the full flood of the heavily glory of the noonday sun – faltering and feeble and ever ready to be extinguished."

   Fredric Shalgale

परमशान्ति नहीं आ सकती। इसलिये यहाँ मूलभूत प्रश्न पैदा होता है कि हम परमसत्य अर्थात् आत्मबोध अथवा तत्त्वबोध कैसे प्राप्त करें जिससे उपनिषद् अथवा गीता की अमृतवाणी हमारे अनुभव से प्रमाणित हो? इसके लिए तीव्र वैराग्य एवं प्रबल जिज्ञासा के साथ ही श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ सद्‌गुरु की शरण परमावश्यक है।

तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत् समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम् (मुण्डक० १/२/१२)

तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः॥

(श्रीमद्भगीता ४/३४)

पूज्य गुरुदेव के मुखारिविन्द से उपनिषद की अमृतवाणी विभिन्न सम्मेलनों एवं शिविरों में पूरे वर्ष अविरल रूप से प्रवाहित होती रहती है। शास्त्रों में कहा गया है कि गुरु शिष्य की पात्रता को विचार कर तत्त्वज्ञान का उपदेश करें। परन्तु गुरुदेव की कितनी अपार करुणा है कि हमारी पात्रता का बिना विचार किये ही शास्त्रों के रहस्य को और इतनी ऊँची विद्या को छोटे बच्चों की तरह पढ़ाते हैं।

गतवर्ष २९ अक्टूबर से ४ नवम्बर १९९८ के दौरान हरिद्वार में आयोजित विशेष ध्यान-साधना शिविर में प्रतिदिन एक सत्र में पूज्य महाराज श्री द्वारा मान्डूक्योपनिषद् पर चर्चा की गई। इन सात प्रवचनों को लिपिबद्ध करके प्रस्तुत पुस्तक में प्रस्तुत किया गया है। गुरुदेव के तात्त्विक प्रवचनों को भाषा के रूप में ज्यों के त्यों व्यक्त करना अत्यधिक कठिन है क्योंकि उस परम सत्य का वर्णन करने में भाषा अधूरी लगती है। पूज्य गुरुदेव अपने प्रवचनों में बुद्धिजीवियों की तरह कोई शास्त्रीय विश्लेषण प्रस्तुत नहीं करते अपितु साधकों को व्यवहारिक जीवन के उदाहरणों के माध्यम से सरल से सरल आम भाषा में परम सत्य को जनाने का प्रयास करते हैं। उनकी इसी भावना के अनुरूप हमारा यहाँ प्रयास रहा है कि विषय को क्रमबद्ध रूप से प्रस्तुत किया जाय तथा भाषा एवं व्याकरण सम्बंधी अशुद्धियाँ कम से कम रहें। उन बिन्दुओं को प्रमुखता दी गयी है जो विषय को समझाने में सहायक हैं।

प्रस्तुत पुस्तक की विषय सामग्री को ८ अध्यायों में संकलित किया गया है। प्रथम अध्याय में भूमिका के रूप में मान्डूक्योपनिषद् का संक्षिप्त परिचय कराया गया है। दूसरे अध्याय में दार्शनिक पृष्ठभूमि की चर्चा करते हुए मान्डूक्योपनिषद् का शाब्दिक अर्थ तथा आत्मा के तीन पादों - विश्व, तैजस तथा प्राज्ञ पर प्रकाश डाला गया है। चूँकि

मान्डूक्योपनिषद् का प्रयोजन आत्मा के चतुर्थ पाद को जनाना ही है, अतः तीसरे एवं चौथे अध्याय में चतुर्थ पाद की विस्तार से व्याख्या की गई है। पाँचवें अध्याय में चतुर्थ पाद अर्थात् तुरीय को समझने की प्रक्रिया को विस्तार से बताया गया है। तदुपरान्त छठवें अध्याय में तुरीय की महिमा तथा सातवें अध्याय में आत्मा और उसके पादों की ओंकार एवं उसकी मात्राओं के साथ एकता स्पष्ट की गई है। उपसंहार के रूप में आठवें अध्याय में मंगलाचरण के साथ ही मान्डूक्योपनिषद् के कुछ निहित सन्देशों जैसे यज्ञमय जीवन, सत्य से परमसत्य का विश्लेषण, सार्वभौमिक धर्म के रूप में सनातन (हिन्दू) धर्म आदि को समाहित किया गया है। कई स्थानों पर पुनरावृत्ति भी हुई है परन्तु ऐसा साधकों के समझाने एवं विषय को स्पष्ट करने के प्रयोजन से ही हुआ है। अतः इसे पुनरुक्ति दोष के रूप में नहीं लिया जाना चाहिये।

पूज्य गुरुदेव की आज्ञा स्वीकार कर मैंने यह कार्य प्रारम्भ किया। प्रस्तुत पुस्तक के सम्पादन एवं प्रस्तुतीकरण के दौरान मुझे अनुभव हुआ कि सचमुच में मैं कितना भाग्यशाली हूँ कि पूज्य गुरुदेव ने मुझे इस कार्य को करने का सुअवसर प्रदान किया। मेरा पूर्ण विश्वास है कि वैराग्यवान एवं जिज्ञासु साधक एवं भक्तगण इस पुस्तक को पढ़ने के बाद अप्रभावित हुए बिना नहीं रह सकते।

इस अवसर पर मैं साध्वी चैतन्य सिन्धुजी के प्रति अपनी हार्दिक कृतज्ञता व्यक्त करता हूँ जो संस्था के प्रकाशन सम्बन्धी कार्यों में विविध रूपों में अपना अमूल्य सहयोग प्रदान करती हैं। कैसेटस में रिकार्डिड प्रवचनों को लिपिबद्ध करना अत्यधिक कठिन कार्य है। कुमारी आरती धवन के सहयोग से यह कार्य सम्पन्न हुआ। प्रकाशन विभाग उनका आभारी है। पुस्तक के प्रकाशन में श्री चमनलाल जी अपना सहयोग देते रहे हैं। उनके प्रति मैं धन्यवाद व्यक्त करता हूँ।

डा० नारायण प्रसाद

दिल्ली
१५/११/१९९९

अवधूत, परमहंस, बालब्रह्मचारी, तपापूत; सत्य की प्रतिमूर्ति, विरक्त ब्रह्मलीन अनन्त श्री विभूषित स्वामी अखण्डानन्द जी महाराज जिनके सानिध्य एवं संरक्षण में युगपुरुष स्वामी परमानन्द जी महाराज ने तत्त्वानुभूति प्राप्त की।

युगपुरुष स्वामी परमानन्द जी महाराज

सरल स्वभाव एवं प्रेम की प्रतिमूर्ति, पूज्य गुरुदेव के शिष्य स्वामी परम जी महाराज जिनके सौजन्य से प्रस्तुत पुस्तक प्रकाशित हुई।

१

माण्डूक्योपनिषद् : एक विहंगम दृष्टि

१.१ नाम और नामी की अवधारणा

किसी व्यक्ति या वस्तु की जानकारी एवं परिचय के लिए उसके नाम की आवश्यकता पड़ती है। अर्थात् नाम उसी को कहते हैं जिससे अमुक वस्तु अथवा व्यक्ति का ज्ञान हो। व्यवहारिक जगत में नाम कई आधारों पर रखे जाते हैं

(i) वस्तु के स्वरूप के आधार पर :- जैसे दो पहिये वाले वाहन को टू-व्हीलर, तीन पहिये वाले वाहन को थ्री-व्हीलर बोलते हैं।

(ii) गुण विशेष के आधार पर :- कई बार व्यक्तियों के गुण विशेष के आधार पर उनका नाम रख दिया जाता है। जैसे भगवान बुद्ध का नाम उनके स्वभाव/निष्ठा के अनुरूप है।

कुछ नाम ऐसे भी होते हैं जिनसे उनका अर्थ भी निकलता है। कई बार नाम प्यार में यूँ ही रख दिया जाता है। उस नाम का उस व्यक्ति के गुण एवं प्रकृति से कोई संबंध नहीं होता। जैसे किसी लड़की का नाम यूँ ही शान्ति देवी रख दिया जाय। अब शान्ति उसका गुण स्वभाव नहीं है, पर नाम रख दिया। कहने का आशय है कि लौकिक जगत में नाम से व्यक्ति के स्वभाव का ठीक से परिचय हो - ऐसा आवश्यक नहीं है। फिर भी नाम होने पर लोग उसी नाम से पुकारते हैं। उसी प्रकार किसी ने अपने घर का नाम शान्तिनिकेतन रख दिया हो परन्तु घर में दुख ही दुख रहता हो तो क्या करेगा? फिर भी घर को शान्ति भवन के नाम से पुकारा जायेगा। नाम रखने का हेतु उस व्यक्ति का परिचय कराना होता है। जिसका नाम रखा जाता है वह नामी होता है और जिस शब्द (संज्ञा) से व्यक्ति विशेष का परिचय होता है वह नाम कहलाता है।

१.२ परमात्मा के नाम तथा गुण

भिन्न-भिन्न अवतार होने से भगवान के बहुत से नाम हुए। यद्यपि इन नामों को हम तर्क एवं व्याकरण से सिद्ध भी कर लेते हैं, परन्तु उन नामों से परमात्मा के सब गुण प्रकट

नहीं होते। उदाहरण के लिए 'सच्चिदानन्द' भगवान का बहुत अच्छा नाम है। इससे यह पता चलता है कि भगवान कैसे हैं? सत चित तथा आनन्द। 'सच्चिदानन्द' से ब्रह्म के अतिरिक्त अन्य अर्थ नहीं निकलेगा।

नाम के दो पक्ष - परमात्मा के कुछ नाम स्वरूप वाची होते हुए व्यक्ति वाची भी हैं। जैसे - राम। राम व्यक्ति के साथ भी जुड़ा है और राम ब्रह्म के लिए भी है। परन्तु हम सामान्यतया जब 'राम' कहते हैं तो प्रचलित अर्थ में उसका संकेत दशरथ पुत्र राम की तरफ ही जाता है। 'व्यापक ब्रह्म सबके अन्तःकरण में हैं' - ऐसा ख्याल में नहीं आता। ब्रह्म के व्यापक होने से वे राम में भी थे। इसीलिए 'राम' शब्द के उच्चारण में ब्रह्मता भी है और व्यक्ति भी हैं। वैसे तो सभी व्यक्ति व्यक्ति भी हैं और उनमें ब्रह्म भी है, फिर हम सबके नामों को ब्रह्म क्यों नहीं मानते? इस तर्क के आधार पर कि राम की तरह आप भी व्यक्ति एवं ब्रह्म दोनों ही हैं, आपके नाम का जप सर्वत्र क्यों नहीं किया जाता? इसलिए कि आप स्वयं इस बात से अनभिज्ञ हैं कि 'आप ब्रह्म हैं।' ऐसी स्थिति में यदि कोई व्यक्ति आपको ब्रह्म समझकर आपके पास आ भी जाय तो उसे कैसे संतुष्ट करेंगे? ऐसे सन्त, महात्मा तथा गुरु जो व्यक्ति होते हुए भी जिनको ब्रह्मता प्राप्त थी, वे ब्रह्म रूप ही थे। अतः वे भी ब्रह्म नाम से विख्यात हो गये। इसी अर्थ में गुरु को कहा गया:

गुरुर्ब्रह्मा गुरुर्विष्णुः गुरुर्देवो महेश्वरः।
गुरुस्साक्षात् परब्रह्म तस्मै श्री गुरवे नमः।।

(गुरु ब्रह्मा हैं, गुरु विष्णु हैं, गुरु शिव हैं। गुरु साक्षात् ब्रह्म हैं, ऐसे गुरु को मैं नमस्कार करता हूँ।)

१.३ ॐ परमात्मा का पूर्ण एवं उचित नाम

ब्रह्म या परमात्मा का उचित नाम क्या है? सत्यनारायण के नाम में केवल 'सत्य' गुण ही प्रतिबिम्बित होता है। परन्तु 'सच्चिदानन्द' में सब कुछ आ जाता है। परमात्मा का ॐ नाम वेदों में है। इसलिए हर मन्त्र से पहले हम ॐ लगाते हैं। वेद मंत्र, गायत्री मन्त्र, नारायण मन्त्र, शिव मन्त्र - सभी के नाम से पहले ॐ लगाते हैं। हम लोगों का यह विश्वास है कि ॐ लगाये बिना कोई मन्त्र पूरा नहीं होता। असल में ॐ में तीन अक्षर होते हैं - अ, उ, म्। इन्हें मात्रा बोलते हैं। इन तीन अक्षरों के मिलने से ॐ बन जाता है। परन्तु मिला

देने से हमें समझ नहीं आता। जैसे कुटी हुई मिश्रित दवा। कुटी हुई दवा के मिश्रण से पहले यह जानकारी रहती है कि अमुक पत्ती है, अमुक चीज है। पर जब दवा कूटकर तथा पीसकर छान दी जाती है तो फिर क्या-क्या है? - यह पता नहीं लगता। इसी प्रकार ॐ भी आम लोगों को स्पष्ट नहीं होता। किसी अनजान व्यक्ति को यह पूछने पर कि ॐ में कितने अक्षर होते हैं? कहेगा कि ॐ एक अक्षर है। पर यथार्थ में उसमें तीन अक्षर हैं - अ, उ तथा म्। यदि आप व्याकरण नहीं भी जानते हो तो इतना तो समझ ही सकते हो कि गुण सन्धि के नियमानुसार अ + उ मिलकर ओ हो जाता है। जैसे गंगा+उदक के मिलाने से गंगोदक हो जाता है। तो ॐ के अ + उ मिलकर ओ और म् आधा होने से ॐ बना। इस प्रकार ॐ में अ, उ तथा म् तीन अक्षर सीधे हैं। अब प्रश्न उठेगा कि इन तीन अक्षरों के अतिरिक्त ॐ में चौथा क्या है? क्या व्याकरण वाला यह बता सकता है कि इन तीन अक्षरों के अतिरिक्त चौथा क्या है अथवा कहाँ है? यह बात ऐसे ही है जैसे हम पूछें कि प्रयाग में गंगा तथा यमुना सबको मिलीं पर सरस्वती किसी को नहीं मिली। यदि हमें जनता को अध्यात्म की ओर ले जाना है तो समझाने के लिए सरस्वती को स्वीकारना ही होगा। इसी प्रकार उपनिषद् में अ, उ तथा म् तीन मात्राओं के साथ एक अमात्र भी है। कोई-कोई इसे अर्धमात्र भी कहते हैं। पर उपनिषद् में अर्धमात्र कोई शब्द नहीं है अतः यह अमात्र ही है। मात्रा हैं अ, उ तथा म् और अमात्र है ॐ।

ॐ भी दो तरह का है - एक मात्रा वाला तथा दूसरा बिना मात्रा वाला। जैसे नदियाँ भी दो तरह की हैं - दिखने वाली - (गंगा और यमुना) और न दिखने वाली - (सरस्वती)। अब प्रश्न उठेगा कि आत्मा या ब्रह्म का नाम ॐ क्यों रखा गया? क्योंकि ब्रह्म के भी तीन पाद नजर आते हैं - विश्व (जाग्रत), तैजस (स्वप्न) तथा प्राज्ञ (सुषुप्ति)। इन तीनों अवस्थाओं के अतिरिक्त ब्रह्म किसी को नहीं मिला। यदि जाग्रत की तरह सहज ही ब्रह्म कहीं मिल गया होता तो फिर ब्रह्म या आत्मा की खोज के लिए गुरु की, वेद की, उपनिषद् की आवश्यकता नहीं होती।

अ, उ तथा म् ये तीन मात्रायें प्रत्येक शिक्षित व्यक्ति को समझ आयेंगी। यदि इन मात्राओं को बिना मिलाये अउम, अउम .... बोलें तो ॐ जैसा निकलने लगेगा। जैसे मरा मरा ... शब्द को तीव्र गति से बिना गैप छोड़े बोलने पर राम राम हो जाता है। इसी प्रकार अउम में गैप करने से ॐ बन गया जबकि अक्षर तीन ही हैं। एक को भी हटाया नहीं। तीनों अक्षरों के मिलाकर उच्चारण करने पर भी सबसे पहले अ, इसके बाद उ तथा अन्त में म आ

ही जाता है। इसीलिए ॐ परमात्मा का ठीक नाम है। यदि सीधे जीवन को देखें तो हमारी जिन्दगी और ॐ बिलकुल एक ही है।

यदि दो पुस्तकों की लम्बाई चौड़ाई एक बराबर हो अर्थात एक ही आकार की हों और उन्हें एक दूसरे के ऊपर रख दिया जाये तो दोनों अलग-अलग दिखाई नहीं देंगी। इसी प्रकार यदि दो समबाहु (जिसकी तीनों भुजाएँ बराबर होती है) त्रिभुजों को एक दूसरे के ऊपर रख दिया जाये तो भी दोनों अलग-अलग दिखाई नहीं देंगे। वे दोनों एक ही त्रिभुज दिखेंगे। ठीक उसी प्रकार यदि परमात्मा के ॐ नाम को आत्मा के साथ मिला दिया जाये तो ये दोनों अलग-अलग नहीं लगेंगे। ॐ नाम ऐसा लगेगा कि यह मेरा ही नाम है। ॐ नाम एवं हमारा स्वरूप बिलकुल एक दिखेगा। इसलिए ॐ नाम परमात्मा का सबसे उपयुक्त नाम है। यह उनके स्वरूप से पूरा मेल खाता है। दुनिया में इससे अधिक उपयुक्त कोई दूसरा नाम नहीं है।

परन्तु यहाँ प्रश्न उठ सकता है कि फिर परमात्मा को 'करुणा सागर', 'ज्ञान स्वरूप', 'शक्तिमान' इत्यादि विविध नामों से क्यों पुकारते हैं? क्या सन्तों का यह कथन कि 'भगवान के अनंत नाम हैं' - गलत है? नहीं। भगवान के एक-एक गुण के आधार पर अनेक नाम रख दिये गये। जिनको जिस-जिस गुण की आवश्यकता थी उन्होंने उसी आधार पर नाम रख दिये। इसलिये परमात्मा का कोई भी नाम गलत नहीं हैं।

जब सम्बन्ध बहुत नजदीकी का एवं प्रगाढ़ होता है तो हम नाम भी नहीं लेते। इसीलिए भक्तों ने परमात्मा का नाम न लेकर किसी ने उन्हें अपनी माता, किसी ने अपना पिता, किसी ने भाई आदि कह दिया। उन्होंने उनका नाम लेकर पुकारना उचित नहीं समझा। अत परमात्मा एक है। उन्हें किसी एक नाम से या बिना नाम के अपने रिश्ते से भी पुकार सकते हैं।

इसी सांस्कृतिक पृष्ठभूमि को ध्यान में रखते हुए व्यवहार में पुत्र अपने माता पिता को, पत्नी अपने पति को नाम लेकर नहीं बुलाती। नाम तो दूसरों के लिए होता है। अतः पत्नियों को अपने पति का नाम लेने की क्या आवश्यकता है? अब कई तथाकथित बुद्धिजीवी व्यक्ति तर्क करेंगे कि ये बाबा लोग पुरानी रूढ़िवादिता एवं अन्धविश्वास की ही बात करते हैं। अब आप चाहे जो तर्क कर सकते हो, परन्तु इन सभी बातों के पीछे ऋषियों एवं शास्त्रों की जो सोच है, जो हेतु है, मैंने वही बताया है। असल में आप इन स्वार्थी राजनेताओं से प्रभावित होते हो। संतों एवं उपनिषदों की वाणी का अनुसरण नहीं करते। अन्यथा नाम लेने की क्या आवश्यकता? नीलोखेड़ी में एक जगह सत्संग में सूचना करते समय मेरी सारी बातें

कहकर नाम नहीं लिया। यह कह दिया कि हम स्वामीजी का क्या नाम लेवें? आज भी सामने नाम लेना अच्छा नहीं लगता। फिर भी आजकल के सभ्य लोग सब कुछ करने लगे हैं।

संक्षेप में कहने का आशय यह है कि हम परमात्मा का नाम लिये बिना भी उन्हें पुकार सकते हैं। पिता, माता, पति, स्वामी, मालिक, सखा, मित्र, आदि कहकर उन्हें पुकारा जा सकता है। आपका परमात्मा से जो रिश्ता है आप वही कहकर पुकार सकते हो। परन्तु रिश्ता सच्चा होना चाहिए। तभी पुकार भी सच्ची होगी।

अब मैं आपसे पूछता हूँ कि भगवान आपके क्या लगते हैं? कई कहेंगे कि "हमारे तो अभी कुछ भी नहीं लगते। अभी तो हमारा भगवान से कोई रिश्ता ही नहीं है।" "आपके क्या लगते हैं?" "अभी न पिता लगते हैं, न पति लगते हैं न भाई लगते हैं और न हमारे धन लगते हैं।" यदि परमात्मा मेरे धन होते तो उनको पाकर मैं धनी हो जाता। इसलिये वे आपके धन भी नहीं हैं। यदि वे पिता होते तो उनकी गोद में बैठता खेलता। तब निष्कर्ष यह निकला कि परमात्मा से अभी तक हमारा कोई रिश्ता ही नहीं बना है। इसलिए उनके विभिन्न नामों में सन्देह पैदा होता है। अपने सम्प्रदाय वाले नाम को छोड़कर दूसरा नाम पसन्द नहीं आता। इसलिए नाम को लेकर झगड़ा करने लगते हो। अतः वेद को मानने वाले महर्षि दयानन्दजी ने भ्रम एवं झगड़ों को मिटाने के लिए परमात्मा के सौ नाम मान लिये। इसके अतिरिक्त भी अन्य धर्मों, सन्तों, एवं सनातनियों ने अनेक नाम स्वीकार कर लिये। जो भी सन्त हुआ उसने प्यार से अपने पिता का नाम रख लिया। उन्होंनें (सन्तों की) यह परवाह नहीं की कि यह नाम वेद में है कि नहीं? प्रचलित है कि नहीं? उन्होंनें प्रेम से परमात्मा का नाम रखा और उसी नाम से पुकारा। उसी नाम से याद किया। कई लोगों ने अपने रिश्ते के आधार पर नाम रखा।

नाम लेने में श्रद्धा अधिक महत्वपूर्ण है। कोई भी नाम प्यार से लेने में भगवान को बुरा नहीं लगता।

कई लोगों ने प्यार के अतिरेक में भगवान कृष्ण के "काला" "कलुआ" आदि नाम भी रख दिये। परन्तु भगवान को ये बुरे नहीं लगते।

कई लोग मंच पर बड़ी सभ्यता में मुझे 'युगपुरुष स्वामी परमानन्द' कह देते हैं और मेरे पीछे मुझे गाली भी देते हैं। उनके 'युगपुरुष' कहने पर मुझे अपमान लगता है। हमारे गुरुदेव मुझे 'ए परमा' कहकर बुलाते थे, तो मुझे बहुत अच्छा लगता था।

श्रद्धा से लिया गया नाम परमात्मा को भी बहुत अच्छा लगता है। आप प्रेमपूर्वक परमात्मा का नाम लें। परमात्मा से कोई रिश्ता बनायें। अपनापन परमात्मा से होना चाहिये। यह समझें कि परमात्मा मेरा अपना आपा है। परमात्मा मेरा "मैं" है। सच तो यह है कि "मेरा" भी नहीं है अपितु मेरा भी "मैं" ही है। भगवान कृष्ण कहते हैं

ज्ञानी तु आत्मैव मे मतम्।

परमात्मा को ज्ञानी खुद "मैं" लगते हैं। वे ज्ञानियों को कहते है "ये तो मैं ही हूं।" भगवान कृष्ण ने अर्जुन से कहा

वृष्णीनां वासुदेवोऽस्मि पाण्डवानां धनञ्जयः।
मुनीनामप्यहं व्यासः कवीनामुशना कविः।।10-37

(वृष्णिवंशियों में वासुदेव अर्थात मैं स्वयं तेरा सखा, पान्डवों में धनञ्जय अर्थात् तू, मुनियों में वेदव्यास और कवियों में शुक्राचार्य कवि भी मैं ही हूँ।)

अर्थात् कृष्ण ने अर्जुन से कहा कि अर्जुन भी मैं ही हूं। अर्जुन मेरी विभूति है, मेरा स्वरूप है। जबकि अर्जुन स्वयं यह नहीं समझा कि मैं भगवान ही हूं। ज्ञानियों को तो कह दिया, "ज्ञानी तो साक्षात मेरे ही स्वरूप है। ब्रह्म ही हैं।" ज्ञानी भी यही ही मानते हैं कि ब्रह्म तो मेरा अपना आपा ही है। इतनी नजदीकी है। 'मेरे पिता हैं' - ये भी नजदीकी है। 'मेरे भाई हैं' - ये भी नजदीकी है। 'मेरे पति हैं' - ये भी नजदीकी है। 'वे मेरे धन हैं, उनके बिना मैं मछली की तरह तड़पता हूं' - यह बहुत बड़ी नजदीकी है।

दिखने वाले धन के छिन जाने से हृदय फेल हो जाता है। धन से प्यार होना कोई बुरी बात नहीं है। पर 'छिन जाता है' - यही कमी है। यदि दिखने वाला स्थूल धन नहीं छिनता होता तो यह मेरा परम धन हो जाता। इसी प्रकार दिखने वाले पति एवं पत्नी का अभाव हो जाता है, इसलिये अपना बनाकर भी रोना पड़ता है। इसलिये परमात्मा को अपना पति मान लो। परन्तु अब शंका पैदा हो सकती है कि दिखता तो है नहीं, केवल मान लेने से क्या होगा? दिखने वाले को देख पाने की अक्ल तो जानवर के पास भी है। न दिखने वाले पति या पिता को जो देखे अर्थात स्वीकारे, वही तो भक्त है। दिखने वाली नदियाँ तो मूर्ख को भी दिखती हैं। न दिखने वाली नदी में भी जो स्नान कर आये हैं, वही तो भक्त है, विश्वासी हैं। स्थूल दृष्टि से न दिखने वाले परमात्मा का विश्वास भक्ति का

लक्षण है। स्थूल जगत के अस्तित्व को कोई अस्वीकार नहीं करता। व्यवहारिक जगत की सत्ता को नास्तिक भी इन्कार नहीं कर पा रहा। वे स्थूल दृष्टि से न दिखने वाले को ही इन्कार करते हैं। अब मैं पूछना चाहूँगा कि क्या इस न दिखने वाले के बिना अपने आप कोई खड़ा हुआ है? क्या इस दिखाई देने वाले स्थूल जगत की व्यवस्था किसी नियम एवं संचालन के बिना चल सकती है? डाक्टर, इंजीनियर, एवं वैज्ञानिक जब इस सृष्टि को एवं पंचभूत निर्मित शरीर को देखते हैं तो यह स्वीकार करते हैं कि यह बिना किसी व्यवस्था के नहीं चल सकता। इस सृष्टि का निर्माण आकस्मिकता से नहीं हुआ। 'इधर से कागज उड़ा, उधर से उड़ा और कुछ अपने डिजाइन का बन गया' यह दुनिया इस प्रकार नहीं बनी।

१.४ परमात्मा से जनित सृष्टि परमात्मा होते हुए भी परमात्मा से विलक्षण ही होगी

ऊपर यह बताया गया कि ॐ परमात्मा का नाम है। इसमें अ, उ तथा म् तीन मात्रायें हैं। एक और भी है जिसे हम मात्रा नहीं कहते क्योंकि मात्रा तो केवल मात्रा की सहयोगी हो सकती है। अलग-अलग मात्राओं के गुण भिन्न होते हैं। अ को हम उ नहीं कह सकते तथा उ को अ नहीं कह सकते क्योंकि उसके उच्चारण एवं लक्षण भिन्न हैं। इस प्रकार तीन मात्राओं वाले ॐ को सब लोग जानते हैं। उसका परिचय देने में कोई बड़ी कठिनाई नहीं है। ॐ में तीन मात्राओं के अतिरिक्त एक अमात्र भी है। बिना अमात्रा के किसी मात्रा का जन्म नहीं हो सकता क्योंकि जो वस्तु नहीं है उसका आप उच्चारण नहीं कर सकते। कहने का आशय है कि जो अक्षर या मात्रा वर्णमाला में नहीं है उसका उच्चारण नहीं किया जा सकता। उदाहरणस्वरूप, यदि मैं कहूँ कि पाँच कर्मेन्द्रियों तथा पाँच ज्ञानेन्द्रियों के अतिरिक्त कोई एक नई इन्द्रिय बनाइये। तो आप बना पायेंगे? नहीं। तो जो चीज है, वही प्रकट हुई है। इसी प्रकार जो अमात्र ॐ था, वही प्रकट हुआ। असल में ॐ अमात्र था। ॐ की कोई मात्रा नहीं थी। परन्तु यदि ॐ प्रकट होगा तो वह मात्रा बन ही जाएगा। उदाहरण के लिए आप यह जानते हैं कि मिट्टी आपने नहीं बनाई। परन्तु मिट्टी से जो भी आप बनाओगे वह सदैव एक जैसा नहीं रह सकता। कई तार्किक लोग तर्क करते हैं कि जो चीज ब्रह्म से पैदा हुई उसे ब्रह्म जैसी ही होना चाहिये। अर्थात अविनाशी से जो हो, वह भी अविनाशी ही होना चाहिये। इस पर हम कहना चाहेंगे कि आप मिट्टी से जो बनाओ उसे

मिट्टी के समय तक रहना चाहिये क्योंकि वह मिट्टी से हुआ है। इसी प्रकार सोने से निर्मित आभूषण सोने की तरह सदैव नहीं रहना। इसी प्रकार अमात्र से जो पैदा होगा वह मात्रा हो जावेगा। जो विभु से पैदा होगा वह परिच्छिन्न हो जावेगा। जो अकालपुरुष से पैदा होगा वह काल वाला हो जावेगा। इसलिए परमात्मा से पैदा हुई सृष्टि परमात्मा से विरूद्ध होगी। (परमात्मा अविनाशी है जबकि सृष्टि होगी नाशी) ह-वह परमात्मा की तरह नहीं होगी परन्तु होगी परमात्मा ही। क्योंकि और कुछ है ही नहीं। परन्तु जनसामान्य को वह (सृष्टि) परमात्मा नहीं दिखेगी। उन्हें तो जो कुछ बना हुआ है, वह नाशवान ही दिखेगा। अब मैं आपसे पूछता हूँ कि मिट्टी से निर्मित घड़ा रहने वाला है या न रहने वाला? न रहने वाला। हम सरल शब्दों में कह सकते हैं कि रहने वाली में (मिट्टी में) न रहने वाला (घड़ा) दिखने लगा। फिर आप घड़े के टूटने के बाद कहेंगे कि अब नहीं रहा। यदि आप ईमानदारी से देखो तो यह जानोगे कि जो (घड़ा) है वह मिट्टी ही तो है। अब घड़े का रहना और न रहना ये आपकी दृष्टि की ही तो बात है। ठीक इसी प्रकार ॐ प्रकट होने से अकार, उकार, तथा मकार तीन मात्राओं वाला हो गया। असल में ॐ तो अमात्र ही है। ॐ में कोई मात्रा थी ही नहीं। प्रकट होने से ही उसमें अकार, उकार तथा मकार तीन मात्रायें हो गयीं।

१.५ ॐ की तीन मात्रायें एवं अमात्र का पारस्परिक सम्बन्ध

अब आप प्रश्न करोगे कि ये तीनों मात्रायें प्रकट ही क्यों हुईं? यदि ये मात्रायें प्रकट न होतीं तो अमात्र का पता ही न चलता। कौन यह स्वीकार करता कि ॐ है। इसीलिये यह ॐ सृष्टि एवं ब्रह्म दोनों का परिचय करा देता है।

> शब्द से ही जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति, विश्व, तैजस, प्राज्ञ, तुरीय अमात्र और ब्रह्म-साक्षी आदि का पता चलता है।

यदि इन जाग्रत, स्वप्न एवं सुषुप्ति तीनों को हटा दें तो क्या ब्रह्म के विषय में कुछ बता पाओगे अथवा समझ पाओगे? जिसमें ज्ञान बाहर की ओर है, जगत की ओर है वह है बहिष्प्रज्ञ अर्थात जाग्रत। ज्ञान जिसमें अन्दर-अन्दर है वह अन्तःप्रज्ञ (स्वप्न) है। जिसमें ज्ञान घनीभूत है, वह सुषुप्ति है। अभी आप जब ब्रह्म की चर्चा सुनने बैठे हैं इन तीनों पादों (जाग्रत, स्वप्न तथा सुषुप्ति) में या बिना इन तीनों पादों के? इन तीनों पाद में, ॐ कार की

चार मात्रायें हैं। तीन मात्रा तथा एक अमात्र है। अकार, उकार, मकार तथा एक अमात्र। व्यक्तियों को अकार, उकार, तथा मकार तो दिखता है परन्तु चौथा अमात्र वेकार लगता है। तीन हैं साकार और एक है निराकार। यह अमात्र अर्थात् निराकार लोगों को वेकार लगता है, जवकि अमात्र को समझना ही लक्ष्य होना चाहिये।

संगीत के सातों स्वरों "सारेग, रेगम, गमप, पधनि, धनिसा" के उच्चारण की तरह अ, उ, म के अलग-अलग वोलने पर भी इनमें एकता है और जव 'ॐ' एक चैतन्य अन्तःकरण में प्रकट हुआ तो एक (अ) जाग्रत, दूसरा (उ) स्वप्न तथा तीसरा (म) सुषुप्ति वन गई। साक्षी न जाग्रत है, न स्वप्न और न सुषुप्ति। इसलिए आत्मा के लक्षण एवं ॐ की मात्रायें एक हैं। ॐ के अमात्र के विषय में पूछने पर स्थूल तक ही समझ रखने वाले लोग (फिर चाहे वे डाक्टर, वकील, प्रोफेसर, वुद्धिजीवी, कोई भी हों) कहेंगे कि अमात्र तो मात्र वकवास है। परन्तु हम इस पर कहना चाहेंगे कि यदि अमात्र न हो तो ॐ वकवास है। अर्थात् अकार, उकार एवं मकार तीनों ही वकवास हैं। सत्य तो यह है कि अकार, उकार एवं मकार के दिखने के कारण ही अमात्र का ख्याल आया। ऐसे ही जाग्रत, स्वप्न तथा सुषुप्ति, विश्व, तैजस एवं प्राज्ञ के कारण ही आत्मा का पता चला। इनके कारण ही आत्मा को खोजने की जरूरत पड़ी। इनके अभाव (जाग्रत, स्वप्न तथा सुषुप्ति के विना) में आत्मा, व्रह्म, अविनाशी, अकालपुरुष को कौन ढूंढता? यदि ये काल वाले (मानव शरीर) न होते तो अकाल का पता ही न चलता। और यदि अकाल (परमात्मा) नहीं होता तो काल वाले अर्थात् विविध योनियों वाले जीव नहीं जन्मते। अकाल (परमात्मा) के कारण काल वाले (जीव) आये और काल वालों के कारण अकाल का पता चला। इनका वड़ा गहरा संवंध है। इसलिए इनमें से कोई भी व्यर्थ नहीं है। ये काल वाले (मनुष्य) अकाल को जानने के लिए वहुत जरूरी हैं।

ये आत्मा के तीन पाद (जाग्रत, स्वप्न एवं सुषुप्ति) जरूरी हैं। विना इन तीन के चौथे का ज्ञान नहीं हो सकता। असल में चौथा ही सत्य है। तीन मात्रा के विना जो ॐ है वही सच्चा ॐ है। परन्तु वह वोला नहीं जा सकता। वोले जाते ही तीन मात्रायें वनती हैं। इन तीन - जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति, विश्व, तैजस एवं प्राज्ञ के विना उसका (आत्मा) पता नहीं चलेगा। दूसरे, उसके विना ये तीन भी हो नहीं सकते। उसके कारण ये (जाग्रत, स्वप्न एवं सुषुप्ति) हैं और इनके कारण उसकी (आत्मा की) महिमा वढ़ गई। ये उसकी महिमा हैं। इनके कारण उसका पता चलता है। परमात्मा ने अपना वोध कराने के लिए ही इन्हें प्रकट कर

रखा है। इसलिए यह जन्म व्यर्थ नहीं है। परमात्मा को जानने के लिए देह का होना जरूरी है।

माण्डूक्योपनिषद हमारे जीवन की कथा है। यह हमारे जीवन का सत्य है। ॐ वैसे तो भगवान का नाम है। परन्तु समझने पर पता चलेगा कि यह तो मेरा ही नाम है। ॐ के एक-एक अक्षर की हम तुलना करेंगे। जाग्रत जगत को जो प्रकाशित करता है उसका नाम विश्व है। जो स्वप्नों को प्रकाशित करता है वह तैजस और सुषुप्ति का आधार है प्राज्ञ। विश्व का ही नाम बहिष्प्रज्ञ है। जिसका ज्ञान स्थूल जगत की ओर बिखरा है, वही बहिष्प्रज्ञ है। जो भीतर-भीतर इस स्थूल शरीर एवं बाह्य जगत को न जाने तथा मन के अन्दर एक दूसरी दुनियाँ खड़ी करे और उसको देखे उसे अन्तःप्रज्ञ कहते हैं। जब न तो इस बाह्य जगत को देखे और न स्वप्नों को अर्थात् दोनों दृश्यों को न देखे और अज्ञानता में लीन हो जावे तब इस अज्ञान का जो आश्रय रहता है उसे प्राज्ञ बोलते हैं।

भाषा में किसी भी व्यंजन को `अ' के सहारे बोला जाता है अर्थात् सम्पूर्ण शब्द जाल अ के सहारे ही प्रकट हुआ। उसी प्रकार सम्पूर्ण जाग्रत जगत की तुलना `ॐ' के `अ' से की जाती है। इसलिए `ॐ' का `अ' मेरे जाग्रत का नाम है। ॐ का उ मेरे स्वप्न का नाम है। ॐ का म समझो कि मेरी सुषुप्ति का नाम है। जैसे म में अ तथा उ दोनों समा जाते हैं उसी प्रकार नींद में आपके जाग्रत एवं स्वप्न समा जाते हैं। जाग्रत जगत वाली आपकी शिक्षा एवं ज्ञान कितने ही महत्वपूर्ण हों परन्तु नींद में सब विलय हो जाता है। इस तरह ये तीनों पादों का क्रम है। जैसे अ, उ तथा म का क्रम है उसी प्रकार जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति, विश्व, तैजस एवं प्राज्ञ का क्रम है।

यदि हम आपके साथ ॐ को जोड़ें तो जाग्रत का नाम क्या होगा? `अ'। स्वप्न के तैजस का नाम? `उ'। जहाँ सृष्टि का ज्ञान लय हो जाता है उस सुषुप्ति का नाम? `म'। म के उच्चारण में ॐ की मात्रा पूरी हो जाती है अर्थात ॐ पूरा हो जाता है। इस ॐ की पूरी अवस्था सुषुप्ति में लय हो जाती है। सुषुप्ति में ये सब लय हो जाते हैं। इसलिए मेरे तीन पाद (जाग्रत, स्वप्न एवं सुषुप्ति) जो मेरे अनुभव में आये हैं बिलकुल ॐ से मेल खाते हैं।

१.६ हमारा जीवन ही ॐ है

जिस प्रकार ॐ के उच्चारण की हम पुनरावृत्ति करते रहते हैं उसी प्रकार जाग्रत, स्वप्न एवं सुषुप्ति की पुनरावृत्ति होती रहती है। जाग्रत, उसके बाद स्वप्न और फिर सुषुप्ति। जाग्रत, फिर स्वप्न, फिर सुषुप्ति। 'अ, उ, म'। इस प्रकार पूरे 24 घन्टे में जाग्रत, स्वप्न एवं सुषुप्ति के रूप में ॐ का जाप चलता रहता है। इस आधार पर आपका जीवन ही ॐ है। सृष्टि ही ॐ है। इसलिए मैं अब पूछता हूँ कि इस ॐ को ढूँढ़ने आप कहाँ जाते हो? परन्तु इस ॐ के जाप में ज्ञानी, साधकों एवं संन्यासियों का ही अधिकार है। इसमें नासमझों का नहीं है। इसीलिए भगवान शंकराचार्य ने कहा कि जो दुनिया में विरक्त हैं, ऐसे संन्यासियों को ॐ जपना चाहिये।

कुछ ने कहा ॐ को जपने का केवल ब्राह्मणों का अधिकार होना चाहिये। कुछ ने कहा कि स्त्रियों को ॐ नहीं जपना चाहिये। परन्तु भगवान ने कहा - अमुक-अमुक को जप लेना चाहिये। परन्तु हम कहते हैं कि जो हिम्मत जुटाये उन सबका अधिकार है। अब यदि तुम्हीं हिम्मत न जुटाओ तो हम क्या कर सकते हैं?

इस ॐ मंत्र की उपासना करने वाला व्यक्ति मुक्त हो जाता है। उसके लिए कुछ कर्त्तव्य शेष नहीं रहता। एक-एक अक्षर के महत्व को समझकर उपासना करने पर हम यह समझ सकते हैं कि सम्पूर्ण जाग्रत जगत हमारी एक चेतना के अन्दर है। सारा स्वप्न तैजस के अन्दर है और सुषुप्ति में ये (दोनों) सब लय हो जाते हैं। आप इन तीनों मात्राओं से ऊपर अमात्र भी हो। तुम इनके सहित भी हो, और इनसे रहित भी हो। ये बारी-बारी से खोते रहते हैं। पर हम खोते नहीं हैं। हम तो आत्मा हैं। खोते (गये) तो वे हैं जिन्हें सिर्फ खोने (जाग्रत, स्वप्न एवं सुषुप्ति के जाने का) का ही पता है। अर्थात् जाग्रत, स्वप्न एवं सुषुप्ति के खोनें का जिन्हें डर है वही तो खोते हैं। इसलिये जानकार ने कहा, "हम खोते नहीं हैं हमारा स्वप्न खोता है। हमारी सुषुप्ति खोती है। हमारा जाग्रत खोता है। ये ही खोते हैं।" विश्व नहीं रहता, तैजस नहीं रहता, प्राज्ञ नहीं रहता। इनका न रहना हमने जाना है। इनके आने एवं जाने से हम आते-जाते नहीं हैं। परन्तु अज्ञानवश हम इन तीनों पादों के आने-जाने को ही समझ पा रहे हैं।

हमारी आत्मा इनसे ऊपर है। ये (जाग्रत, स्वप्न एवं सुषुप्ति) निम्न हैं। ये प्रतीत होते हैं परन्तु हैं बहुत जरूरी। उतने ही जरूरी जितना कि वाणी से ॐ का

उच्चारण जरूरी है। विश्व, तैजस, प्राज्ञ के विना आत्मा अव्याख्येय थी। इनके विना वह (आत्मा) अनिर्देश्य तथा विना लक्षण वाला था। इनके विना आत्मा की कोई चर्चा नहीं की जा सकती थी। ऐसा समझो कि जाग्रत, स्वप्न एवं सुषुप्ति आत्मा की व्याख्या हैं। इनके विना आत्मा का पता नहीं चल सकता था।

मैं उदाहरण द्वारा पुनः स्पष्ट करना चाहूँगा। विना दर्पण के आपको अपनी भृकुटियों एवं मुँह का पता नहीं चलता। अब मान लो शीशे में आपने अपना मुँह देखा। अब अन्धेरा होने पर मैंने अन्धेरा देखा और मुँह का अभाव हो गया। हम सहज में जो दिखने में आता है उसी को देखते हैं। हमें यह ज्ञान धीरे-धीरे होना चाहिये कि "मैं कौन हूँ।" इसलिये कवीर साहिव ने यह गीत लिखा है -

"सतगुरु ने अलख लखाया है।"

ये तो लख है जो लख रहा है। हमने जाग्रत लख लिया, स्वप्न लख लिया, सुषुप्ति लख ली। हम आये, हम गये - ये तो सव लखते हैं। जो इनसे परे शुद्ध स्वरूप है वह लखने में नहीं आ रहा है, उसी को लखना है। गुरु का काम उसी को लखाना है। ये स्थूल जीव एवं दृश्य तो आपको खुद ही दिख रहे हैं। इसलिए इस आत्मा के अनुसन्धान के लिये ही यह सत्संग है।

वे लोग सचमुच में भाग्यशाली हैं जिन्हें माण्डूक्योपनिषद् सुनने एवं चिन्तन करने का अवसर मिलता है। इस उपनिषद् में 12 मूल मन्त्र हैं। इन 12 मन्त्रों की व्याख्या में अन्य ऋषियों ने विशेषरूप से श्री गौडपादाचार्यजी ने कुछ कारिकायें लिखी हैं। आगे के अध्यायों में हम एक-एक करके इन सभी मन्त्रों की व्याख्या एवं चिन्तन करेंगे।

२

आत्मा के तीन पाद

२.१ दार्शनिक पृष्ठभूमि

सृष्टि के क्रमिक विकास के सन्दर्भ में दो विचारधारायें प्रचलित हैं। एक, भारतीय या पूर्व की विचारधारा तथा दूसरी, यूरोपीय अथवा पश्चिमी विचारधारा। ये दोनों विचारधारायें क्रमशः पूर्व की संस्कृति एवं पश्चिमी संस्कृति के नाम से भी पुकारी जाती हैं।

भारतीय दर्शन का मत है कि सृष्टि का प्रारम्भ सतयुग से होता है। तदुपरान्त त्रेता, द्वापर तथा सबसे बाद में कलयुग। अर्थात् धीरे-धीरे पतन होता है। दूसरी ओर पाश्चात्य सोच यह है कि सृष्टि का धीरे-धीरे उत्थान होता है। उनका मानना है कि प्रारम्भ में बहुत रद्दी अर्थात् असभ्य लोग थे। धीरे-धीरे वे महान् बनते गये। कहने का आशय है कि वे विकासवादी हैं और विकासवाद के सिद्धांत को स्वीकार करते हैं। हम लोग विकासवाद के सिद्धांत को नहीं मानते। हम लोगों का यह मानना है कि परमात्मा द्वारा रचित सृष्टि के प्रारम्भ में अच्छे लोग धरती पर आये। महर्षि आये, ब्राह्मण आये। तब सभी लोग विशुद्ध थे। इस समय शासन की कोई आवश्यकता नहीं थी। धीरे-धीरे पतन होता गया और शास्त्रों की आवश्यकता हुई। जब पतन हुआ तो शासन तंत्र की आवश्यकता अनुभव हुई और मनु को राजा बनाना पड़ा। उनसे पहले कोई राजा नहीं था। व्यक्ति स्वयं धर्म के अनुसार चलते थे। तब पुलिस एवं शासन तंत्र की आवश्यकता नहीं थी। जब समाज बिगड़ने लगा तो राजा बनाना पड़ा और एक कानून बनाया गया जिसे हम 'मनुस्मृति' के रूप में जानते हैं। जब लोग मनुस्मृति को भी स्वीकार न करें तो हम समझें कि यह पतन की पराकाष्ठा है।

आजकल मनुस्मृति को गाली देना शुरू हो गया है। मनुवाद को बुरा कहा जाने लगा है। इसका यह अभिप्राय निकलता है कि हम इस हद तक बदमाश हो गये कि नियम एवं कानूनों को भी ताक पर रखना पड़ रहा है। मैं यह नहीं कहता कि मनु के सिद्धांतों का दुरुपयोग नहीं हुआ। पतन होगा तो दुरुपयोग भी होगा ही। इस प्रकार धर्म छूटने पर शासन

की आवश्यकता पड़ी। शासन की अवहेलना करने पर कानून बनाने पड़े। फिर कानूनों को भी तोड़ने लगे और पतन होता चला गया।

आध्यात्मिक दृष्टि से भी जिनकी सोच पहले बहुत ऊँची थी, वे भी धीरे-धीरे गिरते गये। आज आध्यात्मिक सोच के लोग कम रह गये हैं। आज तो सरकार, राजनीतिज्ञ एवं इस देश के नागरिक यह भी नहीं सोचते कि बच्चों को क्या सिखाना चाहिये? उन्हें कैसा साहित्य पढ़वायें? टेलीविजन आदि पर क्या दिखायें जिससे उनका मानसिक एवं बौद्धिक विकास सही दिशा में हो। यह सब पतनवाद की प्रक्रिया को दिखाता है।

वेद विश्व के प्राचीनतम ग्रन्थ हैं। यह बात विदेशी भी स्वीकार करते हैं। इस आधार पर मैं कहना चाहूँगा कि प्राचीनतम होने के कारण वे (वेद) बहुत अच्छे थे। इसलिये उन ग्रन्थों में कमी कम है, अच्छाई अधिक है। बाद के ग्रन्थ परिस्थिति को देखते हुए लिखे गये या यूँ कहें कि लिखने पड़े। इसलिए बाद के ग्रन्थ उतने महत्व के नहीं हैं।

परिस्थिति के अनुरूप लिखे गये बाद के ग्रन्थ आवश्यक हैं - यह एक अलग विषय है। आवश्यकता तो राजा की पड़ी तो बनाना पड़ा। राजा बनाना पड़ा - यह पतन है, और 'राजा बनाना जरूरी है' - यह एक अच्छाई है। 'राजा बनाना नहीं चाहिये' - यह हम नहीं कहते। पर न बनाना पड़ता, तो बहुत अच्छा होता। परन्तु यदि बनाने की परिस्थिति आ जाये और न बनायें तो बहुत बुरा है। आवश्यकता पड़ने पर बनाना ही पड़ेगा।

इसी प्रकार जैसे-जैसे अपराधी एवं पापी बढ़ते गये, साधुओं को शिष्य बनाने में अनुशासन, नियम, आदि में छूट देनी पड़ी। छूट देना मजबूरी है। परन्तु छूट देनी पड़ती है, यह पतन है। यदि गहराई से अध्ययन करें तो यह पतन की प्रक्रिया विभिन्न क्षेत्रों में दिखाई देगी। आजकल कई लोग अनुशासन एवं नियमों की अनदेखी करके आश्रमों में रहते हैं। ऐसे लोगों को तो आश्रम में प्रवेश नहीं मिलना चाहिये। परन्तु फिर भी रहते हैं। क्या करेंगे? पहले सामान्य लोगों का आचरण एवं व्यवहार जितना अच्छा होता था, आज भले लोग भी उतने अच्छे नहीं हैं। आजादी के समय प्रत्येक राजनीतिक दल के नेता आज के सभी दलों के नेताओं से अच्छे थे। आज पार्टी कोई भी है तुलना में बुरे लोग हैं। यहाँ किसी पार्टी विशेष का विषय नहीं है। हमारे कहने का भाव यह है कि पतन होता है।

वेद एवं उपनिषद् सबसे पहले लिखे गये। इसलिये हम वेद एवं उपनिषदों को सबसे अधिक प्रामाणिक ग्रन्थ मानते हैं। सर्वप्रथम उपनिषदों ने ही परमात्मा की चर्चा की। 'मोक्ष' आदि का वर्णन वेदों ने किया। मानव जीवन कैसे जिया जाय जिससे यह पृथ्वी स्वर्ग हो -

इसका सुन्दर मॉडल हमारे वेदों ने बनाया। इसलिये भारत का अतीत अत्यधिक गौरवपूर्ण रहा। यहाँ पर घरों में ताले नहीं लगते थे। परन्तु अब घर ताले लगाकर भी नहीं बच पाते। क्या यह उत्थान है? नहीं। आप इसे उत्थान कह सकते हो क्योंकि भौतिक वस्तुओं में वृद्धि हो जाने को आप उत्थान समझते हो। मैं तो इसे पतन ही कहूँगा क्योंकि वस्तुओं के बढ़ जाने से कोई व्यक्ति धर्मात्मा नहीं हो जाता।

ऋषियों ने परमाणुओं के तोड़ने का खण्डन किया। परन्तु वैज्ञानिक नहीं माने। भारत के ऋषियों ने मना किया था, उसे भी परमाणु विस्फोट करना पड़ा। परमाणु विस्फोट भारत को प्रिय नहीं, परन्तु मजबूरीवश करना पड़ा। दूसरे देशों की सामरिक शक्ति को ध्यान में रखते हुए अपनी सुरक्षा के वशीभूत हमें यह करना पड़ा। जिन लोगों ने नाभिकीय परीक्षणों का विरोध किया या तो उन्होंने पूरी स्थिति को समझा नहीं अथवा स्वार्थवश विरोध किया।

यदि कोई आज के समय में कहे कि पुलिस एवं प्रशासन तंत्र की आवश्यकता नहीं तो ऐसा करने से अराजकता ही फैलेगी। चोरी, लूटपाट की घटनायें बढ़ेंगी। इतना शासन तंत्र एवं पुलिस के बाद भी तीन-तीन वर्ष की कन्याओं के साथ बलात्कार की घटनायें सुनकर दिल दहल जाता है। क्या आप इसे उत्थान कहेंगे? नहीं। क्या यह विकासवाद है? यदि विकास हुआ है तो भौतिक वस्तुओं का हुआ है, विज्ञान का हुआ है। धर्म का तो ह्रास ही हुआ है। हमारी गीता यह मानती है कि एक बार धर्म का प्रचार एवं प्रसार होता है, कुछ सुधार होता है और पुनः आदमी गिर जाता है।

प्रवचन सुनते समय मन जितना अच्छा होता है, बाद में वैसा नहीं रहता। सभा से उठते ही मन बदलने लगता है। आर्य समाज यह मानता है कि समाधि प्राप्त पुरुष 36 कल्प तक मुक्त रहता है। तदुपरान्त जन्म लेता है और वह उसका अच्छा जन्म होता है क्योंकि बहुत समय बाद पृथ्वी पर आया। उस मुक्ति का प्रभाव उसके जन्म में रहता है। इसके बाद धीरे-धीरे मुक्ति का अनुभव भूलता जाता है और सामान्य व्यक्ति की तरह हो जाता है। फिर दुखी होता है और सुख के लिए समाधि लगाता है। इस प्रकार यह सृष्टि एक चक्र की तरह चलती है। सतयुग, त्रेता, द्वापर, कलियुग क्रमशः आते हैं और पुनः फिर सतयुग आता है। सृष्टि का यह चक्र क्रम से चलता रहता है। परन्तु अच्छे से बुरे होते-होते चलता है।

इस प्रकार समाज के विकास के सन्दर्भ में पाश्चात्य लोगों का कहना है कि पहले हम बहुत असभ्य थे। वैज्ञानिक बन गये। बहुत प्रकार के अनुसन्धान कर लिये - ऐसी उनकी सोच है। परन्तु हमारा कहना है कि पहले हम बहुत अच्छे थे। धीरे-धीरे हमारा पतन हुआ।

उनके अनुसार हम पहले बहुत बुरे थे और धीरे-धीरे अच्छे बने। हम पतनवाद को मानते हैं और वे विकासवाद को।

पतनवाद के सिद्धांत की पृष्ठभूमि में अर्थात् भारतीय दर्शन एवं चिन्तन की दृष्टि से उपनिषद् के समान दूसरा कोई पवित्र ग्रन्थ नहीं है। तदुपरान्त उससे कम, उसके बाद उससे भी कम प्रामाणिक ग्रन्थ लिखते-लिखते आज समाचारपत्र तक प्रामाणिक माने जाने लगे हैं। समाचारपत्रों में जो कुछ छप जाये सही अथवा गलत-सामान्य व्यक्ति द्वारा सब प्रामाणिक स्वीकार कर लिया जाता है।

२.२ माण्डूक्योपनिषद् का शाब्दिक अर्थ

गुण सन्धि के नियमानुसार माण्डूक्य + उपनिषद् मिलकर माण्डूक्योपनिषद् बनता है। आपने कूप-मण्डूक शब्द सुना होगा जिसका अभिप्राय होता है - कुएँ का मेंढक। मण्डूक शब्द से माण्डूक्य बना है। जैसे किसी संकट या समस्या के आने पर मेंढक छलाँग लगाकर चारों पैरों से पानी में कूद जाता है, उसी प्रकार जगत से ब्रह्म में कूदने का नाम माण्डूक्य है।

बन्धन से मुक्ति में, जगत से जगदीश में, दृश्य से द्रष्टा में और प्रकृति से परमेश्वर में कूद जाने का नाम ही माण्डूक्योपनिषद् है।

२.३ माण्डूक्योपनिषद् की महिमा

इस उपनिषद् को यदि हम ध्यान से सुनेंगे तो मुक्त हो जायेंगे। यह मुक्ति प्रदान करने वाला उपनिषद् है। इसमें ऐरे-गैरे की लिखी कहानियाँ एवं किस्से नहीं हैं। इसमें किसी व्यक्ति विशेष की कथा नहीं है। इसमें राजा, रानी, राम, कृष्ण, देवी, देवता, आदि किसी का नाम नहीं है।

विभिन्न धर्मों के अनुयायी अपने धार्मिक ग्रन्थों की महानता बताते समय किसी पैगम्बर या व्यक्ति विशेष का नाम उसके साथ सम्बद्ध करते हैं। जितने भी मजहब हैं वे किसी व्यक्ति के नाम से जुड़े हैं। बौद्ध धर्म गौतम बुद्ध के नाम से तथा जैन धर्म महावीर स्वामी के नाम से जुड़ा है। हमारा हिन्दू धर्म किसी नाम से नहीं जुड़ा। राम और कृष्ण के नाम से वह नहीं जुड़ा। परमानन्द अथवा अमुकानन्द से भी नहीं जुड़ा। जुड़ने से यहाँ अभिप्राय है कि हिन्दू धर्म को किसी व्यक्ति, पैगम्बर, तीर्थंकर, देवी अथवा देवता ने नहीं चलाया।

किसी व्यक्ति से इस धर्म की चर्चा शुरु नहीं हुई। उपनिषदों ने परमात्मा का सबसे पहला नाम `ॐ' रखा। इसी `ॐ' की व्याख्या माण्डूक्योपनिषद् में की गई है।

हम धैर्यपूर्वक इस उपनिषद् का प्रारम्भ करेंगे। आपको मण्डूक की तरह छलाँग लगानी होगी। वैसे कूएँ के मेंढक का नाम सुनने में अच्छा नहीं लगता। कुत्ते को हम बुरा समझते हैं। परन्तु हमारे गुरुओं ने कुत्ता बहुत अच्छा माना है। आज भी कुत्ते को स्वामीभक्त मानते हैं। हमारे गुरुओं, सन्तों एवं भक्तों ने तो यहाँ तक कह दिया,

"मैं हूँ कुत्ता राम का, मुतिया मेरा नाम।"

(मैं तो राम का कुत्ता हूँ। उसके हाथ में मेरी रस्सी है। जिधर को ढीली करता है, जाता हूँ। रोक लेता है, रुक जाता हूँ। मेरे हाथ में कुछ नहीं है।)

इस प्रकार जहाँ कुत्ता कहना बुरा लगता है, वहीं संत अपने आपको भगवान का कुत्ता कहते हैं। तो हम मेंढक की तरह छलाँग लगायें। सीधे लक्ष्य में कूद जायें। माण्डूक्योपनिषद् की महिमा इसलिए भी बहुत अधिक है कि इस उपनिषद् का प्रारम्भ सीधे परमात्मा के नाम और हमारे जीवन से जुड़ा है। यह उपनिषद सीधे हमारे जीवन की कथा का वर्णन करता है।

२.४ ॐ ही सब कुछ है।

ओमित्येतदक्षरमिदँ सर्वं तस्योपव्याख्यानं भूतं भवद्भविष्यदिति सर्वमोङ्कार एव। यच्चान्यत् त्रिकालातीतं तदप्योङ्कार एव।।१।।

(ॐ यह अक्षर ही सब कुछ है। यह भूत, भविष्यत् और वर्तमान जो कुछ है, उसी की व्याख्या है, इसलिये यह ओंकार ही है। इसके अतिरिक्त जो अन्य त्रिकालातीत वस्तु है वह भी ओंकार ही है।)

"इदं सर्वं ओम इति एतत्" का अभिप्राय है कि यह सब `ॐ' है। अर्थात् जो कुछ दिखाई, सुनाई देता है और जो कुछ जानने में आता है वह सब `ॐ' ही है।

"भूतंभवद्‌भविष्यति इति सर्वं ओङ्कार एव" का अभिप्राय है कि जो भूतकाल में था, जो अभी है (अर्थात् वर्तमान), तथा जो अभी नहीं है,

आगे होगा (भविष्य) ये सब ओंकार ही है। प्रभु ही है। परमात्मा ही है। ये सब (भूत, वर्तमान एवं भविष्य) भगवान ही हैं। पुनः बता दे - जो अब नहीं है अर्थात भूत में था, जो अब है, तथा जो अब नहीं है, आगे आयेगा (भविष्यत) - ये सब ओंकार है।

'यच्च अन्यत् त्रिकालातीतं तत् अपि ओङ्कार एव' अर्थात इसके अलावा जो तीनों काल से अतीत है वह भी ओङ्कार ही है। अर्थात् जिसका कभी भूत नहीं होता, न भविष्य होता है और जो होकर वर्तमान नहीं होता (अर्थात् जो सदा वर्तमान है) वह ओङ्कार ही है। 'जो होकर वर्तमान नहीं हुआ' का आशय यह है कि परमात्मा या सत्य उत्पन्न होकर वर्तमान नहीं हुआ। वह तो सदा वर्तमान ही है।

सदैव वर्तमान रहनेवाले को क्या आप जानते हो? क्या आपकी निगाह में कोई सदा वर्तमान है? जवानी आज वर्तमान है कि सदा वर्तमान थी? क्या जाग्रत सदा वर्तमान रहता है? और स्वप्न? सुषुप्ति? सदा वर्तमान तो एक ही है और वह परमात्मा दिखाई नहीं पड़ता। इसलिये जो दिखाई पड़ा वह भूत हो गया। जो दिखाई पड रहा है, वह भूत होगा। जो अभी वर्तमान नहीं है, और भूत भी नहीं, भविष्य में होगा - ये सब ओंकार है।

परन्तु इसके अलावा जो त्रिकालातीत है, तीनों काल (भूत, वर्तमान एवं भविष्यत्) के परे है वह भी ॐ ही है। अर्थात जो तीनों काल की सीमा मे नहीं है, काल के परे है वह भी ओंकार है। इस प्रकार (i) जो भूत, वर्तमान एव भविष्य की सीमा में आबद्ध होकर दिखता है तथा (ii) जो समय की सीमा से परे है वह सब ओंकार ही है।

'तस्य उपव्याख्यानं' जो यह ओंकार हमें दिख रहा है, यह उसका उपव्याख्यान है। अर्थात् इस सृष्टि के लिये, परमात्मा के लिये 'ॐ' व्याख्यान है। हम किसी वाक्य, उपदेश अथवा नाम से किसी वस्तु को पहचानते हैं। परमात्मा को सीधे एवं समीपता से कहने में यदि कोई शब्द सक्षम है तो वह ओंकार है। भगवान की बात सीधे (Direct) कहने से शीघ्र समझ में आयेगी। वैसे तो और भी बहुत शब्द हैं। जैसे - 'परमात्मा निराकार है।' परन्तु यहाँ प्रश्न उठेगा कि हम निराकार को कैसे मान लें कि वह है? कैसे स्वीकार करें?

इसलिये यह ओंकार उस अज्ञात को, अस्पष्ट को, जो जानने में नहीं आता, जनाने के लिए बहुत समर्थ है। प्रारम्भ में ऊपर कहे हुए मंत्र को एक बार फिर दुहरा लें।

ओमित्येतदक्षरमिदँ सर्वं तस्योपव्याख्यानं

भूतंभवद्भविष्यदिति सर्वमोङ्कार एव।
यच्चान्यत्त्रिकालातीतं तदप्योङ्कार एव।।

सब ओंकार है। भूत, वर्तमान एवं भविष्य यह ॐ का उपव्याख्यान है। यदि भूत, वर्तमान एवं भविष्य न होते तो हम उसका व्याख्यान न कर पाते। व्याख्यान के लिये ये तीनों जरूरी हैं। ॐ में तीन मात्रायें होती हैं। तीन अक्षरों से मिलकर ॐ बनता है। ये सृष्टि भी भूत, वर्तमान एवं भविष्य से ही बनी है। इन तीनों (भूत, वर्तमान एवं भविष्य) का हेतु काल है। काल के कारण भूत है, काल के ही कारण वर्तमान है और इसी के कारण भविष्य भी है। काल के बिना ये तीनों सम्भव नहीं हैं। आप बैठे यहाँ प्रवचन सुनते हैं। बैठे हुए कुछ समय हो गया। आपके बैठने का बचपन बीतने लगा। अब बैठने की जवानी आ जायेगी। फिर बैठने का बुढ़ापा आयेगा। फिर बैठने से उकताहट होगी और छोड़ना पड़ेगा। आपको पसन्द हो या न हो पर उठना पड़ेगा। जाग्रत हुआ। कुछ देर रहा। फिर जागने से उकताहट आ सीमा में आबद्ध होकर दिखता है तथा (ii) जो समय की सीमा से परे है वह सब ओंकार ही है।

फिर जागना जिस प्रयोजन से है, जागकर काम करें। बस। इस प्रकार सृष्टि काल वाली है। भूतवाली, वर्तमान वाली तथा भविष्य वाली। यह बहुत जरूरी है। यह तो परमात्मा का उपव्याख्यान है। अकार, उकार तथा मकार रूपी ॐ परमात्मा की व्याख्या करने के लिये आवश्यक है।

अभी ऊपर यह बताया गया था कि भूत, वर्तमान एवं भविष्य इन तीनों के बिना परमात्मा की चर्चा, उनका वर्णन, उनका ज्ञान नहीं हो सकता। इस काल की उपयोगिता को जाग्रत, स्वप्न एवं सुषुप्ति इन तीनों अवस्थाओं के सन्दर्भ में भी स्पष्ट किया जा सकता है।

यदि सृष्टि में सभी जीवों के लिए जिसमें मनुष्य, पशु, पक्षी, कीड़े, मकोड़े, शामिल हैं केवल सुषुप्ति अवस्था हो जाये तो क्या परमात्मा का ज्ञान हो सकेगा? नहीं। तो सुषुप्ति हमारे लिये पर्याप्त नहीं है। इसी प्रकार स्वप्न भी हमारे लिये पर्याप्त नहीं हैं। स्वप्न में विचारक्षमता नहीं होती। विचार करने की सामर्थ्य केवल जाग्रत में ही होती है। सुषुप्ति में सोचने की क्षमता नहीं है, यह किसकी गलती से हुआ? क्या यह अवस्था हमारे प्रमाद से बनी? नहीं। परन्तु सुषुप्ति की एक विशेषता यह है कि बिना ज्ञान-ध्यान के दुखों से निवृत्ति हो जाती है। परन्तु इस निर्णय का व्याख्यान कि 'वहाँ दुःख नहीं रहते' कब करते हैं?

जाग्रत में। यदि जागे ही न होते तो यह सोचने का कि 'सुषुप्ति में कोई दुःख नहीं होता। सुषुप्ति बहुत अच्छी है।' अवसर ही नहीं मिलता। इसलिये केवल सुषुप्ति पर्याप्त नहीं है।

अब यदि स्वप्न एवं नींद केवल ये दो अवस्थायें ही होतीं तो हम स्वप्न एवं सुषुप्ति में कोई निर्णय न कर पाते क्योंकि एक स्वप्न हुआ और नींद में चले गये और नींद से फिर स्वप्न में। वहाँ हम कुछ भी सोच नहीं पाते।

जाग्रत ही एक ऐसी अवस्था है जिसके रहते हममें विचार एवं चिन्तन की सामर्थ्य होती है। यह अवस्था उसी सत्य ने स्वयं प्रकट की है। ये तीनों अवस्थायें - जाग्रत, स्वप्न एवं सुषुप्ति उसी सत्य (परमात्मा) ने प्रकट की हैं। इसलिये ये बन्धन नहीं हैं। ये तो उसकी महिमा है, व्याख्या है। परम सत्य अर्थात् परमात्मा को समझने का अवसर है।

मान लो योगबल द्वारा यदि कोई योगी अपने को अग्नि में अनजला दिखा दे तो प्रत्यक्षदर्शी इस बात पर भरोसा कर लेंगे। परन्तु जिन्होंने ऐसे योगी को नहीं देखा हो और उसके अग्नि में न जलने के चमत्कार के विषय में केवल सुना हो, वह इस चमत्कार को गप्प समझेगा क्योंकि उसके सामने यह घटना घटित नहीं हुई। इसी प्रकार जाग्रत, स्वप्न एवं सुषुप्ति - ये तीनों अवस्थायें यदि सबकी न होतीं अथवा हमारे जीवन में एकाध बार होकर उनकी रोज पुनरावृत्ति नहीं होती, तो आत्मा के अविनाशी होने का कोई प्रमाण न रहता। इसलिये ये सब प्रत्येक व्यक्ति के बार-बार होती रहती हैं जिससे यह सिद्ध किया जा सके कि ये अवस्थायें जाती है और हम (अर्थात साक्षी, सत्य या आत्मा) नहीं जाते। इसलिए

> आत्मा की सत्यता को प्रमाणित करने के लिए असत्य, असद्रूप, प्रपंचरूप जगत की प्रतीति परमावश्यक है। इस प्रतीति के बिना ब्रह्म अव्याख्येय रह जाता। इसलिये जन्म-मरण वाली सृष्टि एवं अवस्थात्रय परमावश्यक हैं।

अतः यह दिखने वाला जगत जाग्रत, स्वप्न एवं सुषुप्ति के रूप में उसकी ही महिमा गा रहा है। इसलिए यह जन्म-मरण वाली सृष्टि ॐ ही है। यह ब्रह्म ही है। यह आवश्यक है। व्यर्थ नहीं है।

अब प्रश्न उठ सकता है कि जिस प्रपंच से निष्प्रपंच ब्रह्म का ज्ञान होता है उसे प्रपंच क्यों कहा जाये? जिस राख (भस्म) से आपके रोग दूर हो जायें उसे राख न कहकर दवा क्यों न कहें? इसके विपरीत जिस दवा से रोग ठीक न हो उसे दवा क्यों कहें? राख क्यों न कहें? राख तो वह है जो कोई राहत न दे और जो लाभ पहुंचाये वह तो दवा है।

यह जगत उनके लिए प्रपंच है जो इसमें फँसे हैं। जिन्होंने इस प्रपंच (जगत) को देखकर मोक्ष पाया है, उनके लिये यह प्रपंच भी ब्रह्म ही है।

इसलिये "ओमित्येदक्षरमिदं सर्वं ...." मंत्र के अनुसार जो भूत, भविष्य एवं वर्तमान है वह सब ॐ है। (i) जिस सत्य को, गुणातीत को, कालातीत तथा अवस्थाओं से अतीत को प्राप्त करना है वह तथा (ii) जो (जगत) ज्ञान में आ रहा है वह - ये सब ओंकार ही है।

२.५ सब कुछ ॐ ही है - कैसे?

सर्वं ह्येतद् ब्रह्मायमात्मा ब्रह्म सोऽयमात्मा चतुष्पात्।।२।।

(यह सब ब्रह्म ही है। यह आत्मा भी ब्रह्म ही है। वह यह आत्मा चार पादों वाला है।)

पहले मंत्र में ॐ नाम बताकर अब कह दिया कि 'यह सब ब्रह्म ही है' अर्थात् यह सम्पूर्ण जगत ब्रह्म से भिन्न कुछ नहीं है। सब का सब ब्रह्म है। ये शब्द मेरे नहीं हैं।

दुनियाँ में जब न कोई दर्शन था, न लेनिन, न मार्क्स, न ब्रिडैले, न बर्कले, न आज के कोई ग्रन्थ थे, उस समय उपनिषद् ने कहा, "सर्वं हि एतत् ब्रह्म........" यह सब कुछ जो दिखता है - ब्रह्म ही है। इसी आधार पर हमारे गुरुओं ने कहा,

"ये जग हर का रूप है, हर रूप नजरिया आया।"

अब कोई कहे कि हम वेद एवं उपनिषदों को नहीं मानते, गुरुवाणी को मानते हैं, तो मैं उनसे पूछना चाहूँगा, "गुरुओं ने कहाँ से जाना? हर शब्द कहाँ से आया? हर रूप, ब्रह्म, ब्रह्मज्ञानी - ये शब्द सबसे पहले किसने बोले थे?" उपनिषद् ने।

इसलिये विश्व की सभी संस्कृतियाँ वेद एवं उपनिषदों की ऋणी हैं। कोई यह स्वीकार करे अथवा न करे। इससे पहले कोई धर्म नहीं था। कोई चिन्तन नहीं था। जो दिखता सुनता है - वह, जो दिखाई सुनाई नहीं पड़ता वह, जहाँ कुछ नहीं रहता वह, तथा शेष रहने वाला सब ब्रह्म ही है - इसकी घोषणा सर्वप्रथम उपनिषद् ने ही की।

इसलिये कहा गया:

"ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते॥"

(यह सच्चिदानन्द घन परब्रह्म पुरुषोत्तम सब प्रकार से सदा सर्वदा परिपूर्ण है। यह जगत भी उस ब्रह्म से पूर्ण ही है क्योंकि यह पूर्ण उस पूर्ण पुरुषोत्तम से ही उत्पन्न हुआ है। इस प्रकार परब्रह्म की पूर्णता से जगत पूर्ण होने पर भी वह परब्रह्म परिपूर्ण है। उस पूर्ण में से पूर्ण को निकाल लेने पर भी वह पूर्ण ही बचा रहता है।)

पूर्ण का कभी नुकसान नहीं होता। तुम्हें नुकसान इसलिये लगता है कि तुम उपनिषद से दूर हो। एक सन्त प्रवचन में कहते थेः "तुम धर्म से, उपनिषद से, परमात्मा से जितने ज्यादा दूर हो, उतने ही मजबूर हो।"

> धर्म से, उपनिषद से दूर होना, विस्मृत होना ही सभी दुखों एवं मजबूरियों का हेतु है।

यदि अपने जीवन को धन्य बनाना चाहते हो तो इस उपनिषद् को श्रद्धापूर्वक सुनो। जैसे कोई गुरुवाणी को सुनता है। कहना तो यह चाहिये था कि गुरुवाणी को ऐसे सुनो जैसे कोई उपनिषद् को सुनता है। परन्तु दुर्भाग्यवश उपनिषद् के प्रति लोगों में इतनी श्रद्धा नहीं रही। इसलिए हम कहते हैं कि जैसे सिक्ख भाई बहन गुरुवाणी पर श्रद्धा करते हैं, सिर झुकाते हैं, उसी प्रकार उपनिषद के लिये सबका सिर झुकना चाहिये। वैसे दिल नहीं झुकता तो सिर ही झुका दो। प्रायः देखने में आया है कि वोट प्राप्त करने हेतु श्रद्धा न होने पर भी राजनीतिक नेता भी गुरुद्वारे, मन्दिर के सामने मत्था टेकते हैं। यहाँ तक कि कम्युनिस्ट तक मत्था टेक देते हैं। जिस स्थान या प्रान्त में नेतागण जाते हैं, वहीं की वेषभूषा भी पहन लेते हैं। यह सब उनकी व्यवहार कुशलता की ओर इंगित करता है।

वोट व्यवहार कुशलता से मिल सकते हैं परन्तु परमात्मा इस प्रकार की व्यवहार कुशलता से प्राप्त नहीं होता। वह तो सच्ची श्रद्धा से प्राप्त होता है। इसलिये गुरुवाणी की तरह जो उपनिषद् को श्रद्धापूर्वक सुनेंगे उन्हें ब्रह्म का ज्ञान होकर रहेगा। इसलिये जितनी श्रद्धा परमात्मा पर है, उतनी ही श्रद्धा उपनिषद पर होनी चाहिये। भले ही आपको उपनिषद याद न रहे हों, परन्तु भगवान का भरोसा तो आपको करना ही पड़ता है। ऐसा क्यों? क्योंकि तुम जो चाहते हो, वह नहीं होता। इसलिये विवशता में गधे को दादा कहना पड रहा है। अब कोई आपत्ति कर सकता है कि मैंने भगवान को गधा कह दिया। असल में

आप उसे गधा ही समझते हो। अभी उसे भगवान नहीं समझते। मजबूरी में उसे दादा कहना पड़ रहा है। अभी आप उसे पिता नहीं समझते हो।

मैं चाहता हूँ कि परमात्मा के लिये आपका हृदय झुके। जब जान जाओगे तो अनुभव से हृदय झुकेगा। बिना जाने भी श्रद्धा करो।

अभी आप भगवान को कहाँ जानते हो? जब किसी समस्या में फँसे होते हो, तो मन्दिर चले जाते हो। मन्दिर में रखी जो प्रतिमायें पत्थर लगती हैं, वे ही परीक्षा के दिनों में भगवान लगने लगती हैं। जो पुजारी वर्षों से चढ़ौती के रुपयों की चोरी करता रहता है, वही अपने पुत्र-पुत्री की बीमारी में प्रार्थना करने लगता है कि, "मैनें बहुत चोरी की है, मेरे लड़के को बचाओ।" जब चोरी करता रहा, तब समझ नहीं आया। तब प्रतिमायें भगवान नहीं लगीं। अन्यथा चोरी क्यों करता? तब अन्धा हो गया था। किसने अन्धा किया? कामना ने, लोभ ने, स्वार्थ ने अन्धा किया था। विपत्ति या संकट के समय पापी भी आँख वाले हो जाते हैं। परन्तु वह आँख थोड़ी देर तभी तक खुली रहती है जब तक कि वह विपत्ति दूर नहीं हो जाती। संकट दूर होते ही उचित- अनुचित का ज्ञान कराने वाली आँख (समझ) फिर बन्द हो जाती है। पाप करने का मतलब आँख पुनः बन्द हो गयी तथा भगवान मनाने अथवा उनकी शरण में जाने का मतलब आँख खुल गई।

जब भगवान की परवाह न रहे और मनमानी करने का दिल करे तो समझ लो, इस समय मेरी आँख बन्द हो गयी। अन्धा हो गया, विवेक नहीं रहा। यदि जीवन में भला चाहते हो तो अन्धे नहीं होना। आँख वाले हो जाओ। शास्त्र आपकी आँख खोलना चाहते हैं।

शास्त्र आपकी आँख खोल देगा तो आपका जीवन धन्य हो जायेगा।

उपनिषद् के दूसरे मंत्र को पुनः स्पष्ट कर दें। "सर्वं ह्येतद् ब्रह्म" - यह सब जो दिख रहा है तथा जो देख रहा है वह ब्रह्म ही है। "अयमात्मा ब्रह्म" यह आत्मा ब्रह्म है। अर्थात् यह जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति, विश्व, तैजस, प्राज्ञ तथा जाग्रत, स्वप्न एवं सुषुप्ति को देखने वाला आत्मा - यह सब ब्रह्म है। गहराई से विचार करें कि उसी मंत्र में एक बार कहा 'ब्रह्म जो सर्वत्र है, सब में है।' फिर कह दिया कि 'वह जो ब्रह्म है, वह आत्मा चार पाद वाला है।' इन चार पादों का प्रारम्भिक परिचय अभी देंगे। फिर एक-एक पाद की विस्तार से चर्चा आगे की जायेगी।

अभी प्रथम एवं द्वितीय मंत्रों में यह बताया गया था कि आत्मा ब्रह्म है तथा ब्रह्म आत्मा है। यहाँ आत्मा व्यष्टिवाचक है तथा ब्रह्म समष्टिवाचक। इसी आधार पर व्यष्टि (आत्मा) के चार पाद की तरह समष्टि (ब्रह्म) के भी चार पाद होंगे। जिस प्रकार गाय के चार पाद होते हैं तो बछड़े के भी चार पाद होते हैं, उसी प्रकार ब्रह्म के भी चार पाद होते होंगे। परन्तु आत्मा के चार पाद गाय के चार पादों की तरह न होकर रुपये के चार आने की तरह हैं।

हम कहेंगे चार आने (जाग्रत) झूठे, चार आने (स्वप्न) झूठे, चार आने (सुषुप्ति) झूठे और एक चार आना (साक्षी या आत्मा) सच्चा। परन्तु एक चार आना जिसे हमने सच्चा कहा वह चार आना नहीं अपितु रुपया है। यदि पहले चार आने (जाग्रत), दूसरे चार आने (स्वप्न), तथा तीसरे चार आने (सुषुप्ति) सच्चे होते तो ये चार आना (आत्मा) फिर रुपया ही न होता।

चार आने (जाग्रत अवस्था) चले गये। फिर दूसरे चार आने (स्वप्न अवस्था) आ गये। इस प्रकार बारी-बारी से ये तीनों चार आने आते-जाते रहते हैं। और एक चार आना (साक्षी), वह तो पूरा रुपया है। कहते हैं चार आना, परन्तु है पूरा रुपया। अब आप कह सकते हैं कि इस प्रकार गिनती करने से (1 रुपया + चार आने + चार आने + चार आने) से तो ये पौने दो रुपये हो जाते हैं। होने तो चाहिये पौने दो रुपये परन्तु ऋषि कहते हैं कि यह एक ही रुपया है। फिर तर्क उठेगा कि यदि एक ही रुपया है तो इन तीन चार आनों को बताने की क्या आवश्यकता थी। सीधे रुपया ही कह देते। इस पर हमारा कहना है कि इन तीन (जाग्रत, स्वप्न एवं सुषुप्ति) के बिना रुपया (साक्षी या आत्मा) दिख ही नहीं सकता। रुपये (साक्षी) का अहसास ही नहीं होगा।

अब हम आत्मा के चार पादों का वर्णन आगे करेंगे।

२.६ आत्मा का प्रथम पाद-विश्व(बहिष्प्रज्ञ)

जागरितस्थानो बहिष्प्रज्ञः सप्ताङ्ग एकोनविंशतिमुखः स्थूलभुग्वैश्वानरः प्रथमः पादः।।3।।

(जाग्रत अवस्था जिसकी अभिव्यक्ति का स्थान है, जो वहिष्प्रज्ञ (वाह्य विषयों को प्रकाशित करने वाला) सात अंगों वाला, उन्नीस मुखों वाला और स्थूल विषयों का भोक्ता है, वह वैश्वानर पहला पाद है)

उपरोक्त मंत्र में आत्मा के प्रथम पाद, जिसको वैश्वानर कहते हैं, की विशेषतायें एवं लक्षण इस प्रकार वताये गये हैं:

(i) जाग्रत अवस्था इसके रहने का स्थान है अर्थात् वह जाग्रत में रहता है।

(ii) जिसकी अपने से भिन्न विषयों में प्रज्ञा है अर्थात् स्थूल की ओर जिसका ज्ञान है, उसे वहिष्प्रज्ञ कहते हैं। यह प्रथम पाद यानी वैश्वानर भौतिक अर्थात् स्थूल जगत को जानता है। इसकी अविद्याकृत वुद्धि वाह्य विषयों से सम्वद्ध-सी भासती है।

(iii) इसके सात (शिर, नेत्र, मुख, प्राण, मध्यस्थान (देह), मूत्रस्थान, चरण) अंग है। "इस वैश्वानर आत्मा का द्युलोक शिर है, सूर्य नेत्र हैं, वायु प्राण है, आकाश मध्यस्थान (देह) है, अन्न (अन्न का कारणरूप जल) ही मूत्र स्थान है और पृथ्वी ही चरण है"। (छा. उ. ५/१८/२)

आत्मा की दृष्टि से अर्थात् व्यष्टि के दृष्टिकोण से जाग्रत के अभिमानी को हम विश्व कहते हैं। उसी को समष्टि की दृष्टि से या ब्रह्म की दृष्टि से वैश्वानर वोलते हैं। यहाँ पर आत्मा के पाद वताते समय वैश्वानर शब्द का प्रयोग इसलिये किया है क्योंकि इससे पहले वाले मंत्र में आत्मा को ब्रह्म कहा था। इसलिये आत्मा के पाद वताते हुए वैश्वानर शब्द द्वारा आत्मा को ब्रह्म से जोड़ दिया।

द्युलोक, सूर्य, आकाश, वायु आदि सात परमात्मा के अंग हैं। वैसे तो ये सात अंग आत्मा के अंग हैं, विश्व के अंग हैं, परन्तु ये मुझे अपने लगते हैं और अभी ब्रह्मांड अपना नहीं लगता, इसलिये आत्मा भी ब्रह्म नहीं लगती। अभी तो केवल देह ही अपनी लगती है। व्यष्टि के पादों का वर्णन करते हुए इन्हें समष्टि के पादों के साथ जोड़ा है जिससे यह स्पष्ट हो सके कि आत्मा ब्रह्म है। आत्मा अलग-अलग नहीं है।

(iv) इस वैश्वानर आत्मा के 19 मुख (**पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ** - नेत्र, कान, नासिका, जिह्वा, त्वचा, **पाँच कर्मेन्द्रियाँ** - हस्त, पाद, मुख, उपस्थ, गुदा, **पाँच प्राण** - प्राण, अपान, समान, व्यान तथा उदान, मन, वुद्धि, अहंकार एवं चित्त) हैं। इन 19 मुखों के द्वारा यह विषयों का भोग करता

है। इनके द्वारा ही सुख-दुःख का अनुभव करता है। इनमें से जो मुख नहीं होगा, वह वाला आनन्द चला जायेगा। इसलिये यह (वैश्वानर)19 मुख वाला है।

(v) यह स्थूल विषयों का भोक्ता है। स्थूल विषयों के बिना यह तृप्त नहीं होता। जाग्रत में ख्याल की पत्नी से काम नहीं चलेगा। जाग्रत में ख्याल के बेटे से सन्तोष नहीं होगा। जाग्रत में ख्याल की रोटियों से भूख नहीं मिटेगी। इसी प्रकार जाग्रत में ख्याल की कुर्सी से चैन नहीं मिलेगा। यही कारण है कि कई बार जाग्रत अवस्था में लोग कहते हैं कि भगवान दिखना चाहिये। हमारे यह कहने पर कि "ध्यान समाधि के द्वारा करो" तो कहते हैं, "नहीं दिखना चाहिये"। ख्याल के गुरूजी से गुजारा नहीं होता। हम यदि कहें कि "हमें सामने से केवल ख्याल से प्रणाम करो", तो यह समझकर कि मैं आपके सामने बैठा हूँ, आपको ख्याल से प्रणाम करने में ज्यादा आपत्ति नहीं होती। परन्तु मेरी अनुपस्थिति में मुझे ख्याल से प्रणाम करने के लिए कहने पर लोग कहते हैं, "मज़ा नहीं आता"। यद्यपि ख्याल से प्रणाम करने की बात बहुत ऊँची है। परन्तु वह तभी हो पायेगा जब आप स्थूल को भूल जाओ। स्थूल को भूल जाने पर ख्याल वाला ही सत्य हो जाता है। इसलिये ध्यान की स्थिति में जब देह का विस्मरण होता है तो ध्यान में जो प्रत्यक्ष होता है वह साक्षात वैसे ही लगता है जैसे प्रत्यक्ष होता है। इस प्रकार जाग्रत अवस्था में स्थूल भोग होते हैं।

अब प्रश्न यह उठ सकता है कि वैश्वानर को आत्मा का प्रथम पाद क्यों कहा? आप जहाँ से चलना प्रारम्भ करेंगे, पहला मील वहीं होगा। आपने यह ब्रह्मज्ञान की कथा सुनना कौनसी अवस्था में शुरु किया? स्वप्न में? नहीं। सुषुप्ति में? नहीं। जाग्रत में। चूँकि जाग्रत में शुरु किया, इसलिए जाग्रत की चर्चा पहले की जाती है। वैसे तो सुषुप्ति पहले होती है। अचेतन अवस्था पहले थी। चेतना में बाद में आये। परन्तु कथा सुनना एवं सुनाना जाग्रत में ही होता है। इसलिये जाग्रत विश्व आत्मा का पहला पाद है। जाग्रत में ही आत्मा के विभिन्न पादों की गिनती कर सकते हैं।

इस प्रकार जाग्रत जगत का अभिमानी जिसे व्यष्टि या आत्मा की दृष्टि से विश्व तथा ब्रह्म अथवा समष्टि की दृष्टि से वैश्वानर कहते हैं आत्मा का प्रथम पाद है। यह बहिष्प्रज्ञ है। इसके सात अंग तथा उन्नीस मुख हैं और स्थूल विषयों का भोक्ता है।

२.७ आत्मा का द्वितीय पाद - तैजस (अन्तःप्रज्ञ)

स्वप्नस्थानोऽन्तः प्रज्ञः सप्ताङ्ग एकोनविंशतिमुखः प्रविविक्तभुक्तैजसो द्वितीयः पादः ॥४॥

(स्वप्न जिसका स्थान है, जो अन्तःप्रज्ञ है, सात अंगों वाला तथा उन्नीस मुख वाला है और सूक्ष्म विषयों का भोक्ता है, वह तैजस इसका दूसरा पाद है)

आत्मा के दूसरे पाद का नाम व्यष्टि की दृष्टि से तैजस है। समष्टि की दृष्टि से वही हिरण्यगर्भ कहा जाता है। उल्लेखनीय है कि ऊपर के मंत्र में हिरण्यगर्भ शब्द का उल्लेख नहीं हुआ है। परन्तु तीसरे मंत्र में जिस प्रकार आत्मा के प्रथम पाद को हमने व्यष्टि की दृष्टि से विश्व तथा समष्टि की दृष्टि से वैश्वानर बताया था। उसी प्रकार दूसरे पाद को व्यष्टि की दृष्टि से तैजस तथा समष्टि की दृष्टि से हिरण्यगर्भ कहते हैं।

स्वप्न इस तैजस का स्थान है। जाग्रत की तरह यह स्वप्न में भी जीने, मरने, शांदी होने, लड़का होने आदि का सुख-दुःख भोगता है। मैं पूछता हूँ कि क्या स्वप्न की मृत्यु तुम्हें स्वप्न के दौरान झूठी लगती है? स्वप्न का नुकसान क्या तुम्हें झूठा लगता है? स्वप्न में चुनाव की विजय? यदि विवाह हो जाये और नींद न खुले तो कोई कमी है? विलकुल नहीं। परन्तु जव जग जाते हैं तो लगता है विलकुल वेकार। इस प्रकार स्वप्न भी कम नहीं हैं। परन्तु स्वप्न की महत्ता उसी समय तक रहती है जव तक कि हम नहीं जागते अर्थात् स्वप्न में हैं। इसलिये '**स्वप्नस्थानोऽन्तः प्रज्ञः**' का अभिप्राय है कि इस तैजस का स्वप्न स्थान है और अन्दर की ओर इसकी प्रज्ञा (वुद्धि) होती है। अपनी वुद्धि तथा वासना से उत्पन्न हुए दृश्यों को देखता है और उन्हीं का आनन्द लेता है। वहाँ अक्ल का मामला नहीं है। यदि स्वप्न में साधु की भी जेव कट जाये तो वहाँ वेदान्त काम नहीं आता। स्वप्न अवस्था विलकुल जाग्रत की तरह सत्य लगती है। परन्तु गड़वड़ क्या है? प्रथम पाद अर्थात् जाग्रत में आते ही सव झूठ लगने लगता है। दूसरे पाद में (स्वप्नावस्था में) तो इसकी (स्वप्न) जाग्रत से तुलना भी नहीं कर सकते। प्रथम पाद (जाग्रतावस्था) में आकर ही पहले एवं दूसरे की तुलना करते हो। यदि स्वप्नावस्था में भी जाग्रत एवं स्वप्न की तुलना कर पाते तो स्वप्न का महत्व भी जाग्रत के समान ही हो जाता। फिर वह भी (स्वप्नावस्था) ज्ञान के लिए प्रथम अवस्था (जाग्रत) की तरह महत्व की होती। परन्तु वहाँ सोचने, तुलना करने, याद करने का कोई अवसर नहीं होता। जो देख रहे हैं, देख रहे हैं। यदि स्वप्न में चिड़िया वनकर उड़

जायें तो यह लगेगा ही नहीं कि झूठ हैं। यहाँ (जाग्रत में) जो चीज हमारे मन की न हो तो लगेगा कि झूठ है। परन्तु स्वप्न में झूठ नहीं लगता। इसलिये स्वप्नावस्था में अन्तः प्रज्ञा होती है। वहाँ भी सात अंग है, उन्नीस ही मुख हैं परन्तु भोग सूक्ष्म होते हैं। सूक्ष्म में ही वहाँ तृप्ति हो जाती है। जब स्वप्न में हमें रुपये मिल जाते हैं तो थोड़ा भी ऐसा नहीं लगता कि ये रुपये बेकार हैं। स्वप्न में भी तुम पास हो जाओ तो क्या झूठा लगता है? वैसा ही सच्चा लगता है, वैसा ही आनन्द आता है। वैसी ही हानि का दुःख होता है। थोड़ा भी कम नहीं। परन्तु मुक्ति के लिए जो चिन्तन हम यहाँ (जाग्रत में) कर सकते हैं, वह वहाँ (स्वप्न में) नहीं किया जा सकता। इसलिये तैजस में वैश्नावर की तरह एक को छोड़कर सभी लक्षण समान हैं। वैश्वानर बाहर की ओर और स्थूल है जबकि तैजस अन्दर की ओर और सूक्ष्म है। सुख-दुःख, अंग, मुख, आदि सब दोनों में ही समान हैं। परन्तु स्वप्न में "जाग्रत क्या है?, सुषुप्ति क्या है?, ब्रह्म क्या है?," - ये नहीं सोच सकते।

एक बार मैं ऋषिकेश में कोयल घाटी में अपने गुरुदेव के अखण्डाश्रम में रुका था। वहाँ पर स्वप्न मे एक हाथी आया। उसने अपने एक पैर को मेरी एक जंघा पर रखा और मेरे दूसरे पैर को सूँड़ से पकड़कर मेरी जँघा फाड़ दी। अब आप समझ सकते हो कि मुझ पर क्या बीती होगी। एक बार तो मुझे बहुत धक्का लगा। परन्तु तुरन्त ही गुरुदेव का ज्ञान पहुँच गया। यह सोचने लगा, "यह हाथी मैं देख रहा हूँ। यह फटा हुआ शरीर मैं देख रहा हूँ। यह तो सब देख रहा हूँ। मेरी मृत्यु कहाँ हुई है?" यह जानकर कि 'मैं बच गया', बहुत प्रसन्न हुआ। अब यह सोच कि 'स्वप्न में मैं बच गया' गुरुदेव द्वारा बताई गई जाग्रत की सोच की देन थी।

ख्याल का दुःख होता है या सचमुच? सुख भी ख्याल का ही है अथवा वहाँ कुछ है? स्थूल के भी सुख-दुःख ख्याल के ही रूप हैं। पदार्थ स्थूल हैं, पर भोग तो वहाँ भी सूक्ष्म ही हैं। धनी होने का सुख मानसिक है अथवा भौतिक? पद का सुख? मानसिक। असल में सभी सुख अथवा दुख चाहे स्थूल हों अथवा सूक्ष्म सब मन में ही हैं। परन्तु फिर भी आप ख्याल के सुख को महत्व न देंगे। यदि ख्याल में आपको संत मिल जायें, ख्याल में गंगा स्नान कर लें, ख्याल में भगवान को प्रणाम करें और ख्याल को जाग्रत से ज्यादा सच्चा कर लें तो समझ लो कि आप स्थूल से सूक्ष्म में प्रवेश कर गये।

स्थूल से सूक्ष्म में चले जाना ही ध्यानावस्था होती है।

सूक्ष्म में गुरु के मिलने या प्रकाश होने पर उतने ही आनन्दित होना जितने कि सच्चे गुरु के मिलने या प्रकाश होने पर होते हो। हम ध्यानावस्था में भी सूक्ष्म में जा सकते हैं। परन्तु जाग्रत में ध्यान में इतना सच्चा हो जाना और इस जगत को भूल जाना बड़ा कठिन है। जबकि स्वप्न में बिना किसी अभ्यास (practice) के जगत को भूल जाते हैं और स्वप्नों में प्रवेश कर जाते हैं। परन्तु ध्यान में गुरु जो बताते हैं वह सत्य नहीं दिख पाता। प्रकाश नहीं दिखता, आनन्द नहीं होता। हम कहते हैं कि "तुम ब्रह्म हो, तुम महान हो। ये जगतवाले मूर्ख तुम्हें ब्रह्म मानें या न मानें, तुम्हें इससे क्या?" आप कहते हैं, "ये जाग्रत वाले मुझे ब्रह्म समझें। ये प्रमाणपत्र दें कि मैं महान हूँ।" कहने का भाव यह कि अभी हम अपने मानसिक जगत में इतने परिपक्व नहीं हैं कि गुरु की बतायी बात को सत्य स्वीकार लें। स्थूल जगत में जो सुख-दुःख होता है उसका हेतु मन ही तो है। भीतर की ओर मन ही तो होता है, तन की तो वहाँ जरूरत ही नहीं। वहाँ (स्वप्न में) तो मन स्वयं तन बन जाता है। जाग्रत का बीमार व्यक्ति स्वप्न में स्वस्थ है, दौड़ने लग जाता है, खेलने लगा, पढ़ने लगा। जाग्रत में बीमार होते हुए भी स्वप्न में उसे आनन्द आने लगा। परन्तु स्थूल को भुलाने के लिए बहुत बड़े अभ्यास की आवश्यकता है।

> स्थूल को बिना भुलाये सूक्ष्म का आनन्द, स्थूल और सूक्ष्म दोनों को छोड़े बिना निद्रा और समाधि का आनन्द और समाधि को भी बाधित किये बिना स्वरूप के आनन्द का अनुभव नहीं होता।

समाधि के सुख की बात जाने बिना ब्रह्म के सुख का अनुभव नहीं होता। इसलिये यहाँ क्रम से चलना है - जाग्रत से स्वप्न में, स्वप्न से सुषुप्ति में, जाग्रत से ध्यान में, ध्यान से समाधि में। तत्पश्चात् स्वरूप में। परन्तु मान्डूक्योपनिषद् में ऋषि कहते हैं कि चौथे में तो छलाँग लगाना है। खिसकना नहीं अपितु जाग्रत से सीधे ब्रह्म में। कोई स्वप्न, सुषुप्ति, अथवा समाधि नहीं। इस उपनिषद् में समाधि की भी गुंजाइश नहीं है। इसमें समाधि मना है। इसमें जाग्रत से ब्रह्म में सीधी छलाँग लगानी है।

एक अर्धव्यास बना देता हूँ।
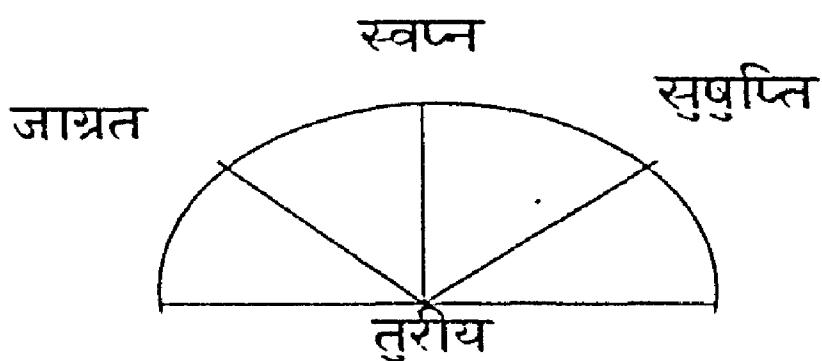
उपरोक्त चित्र में तीन रेखायें हैं। केन्द्र में कहाँ से जा सकते हो? पुनः समझो। जाग्रत, स्वप्न एवं सुषुप्ति - ये तीन रेखायें हैं। सुषुप्ति की रेखा से तुम्हें पता न चलेगा। बाकी तो तुम हो ही वहाँ। तीसरी रेखा वाला तो जगत से छूट चुका है। जगत अर्थात् वृत (circumfrancc) वहाँ है ही नहीं। तीसरे वाला तो है ही केन्द्र में। परन्तु पता नहीं है। दूसरे वाला (स्वप्न) बहुत सूक्ष्म है। सूक्ष्म से तुरन्त सत्य में जाया जा सकता है। ख्याल छोड़े कि निर्विकल्प हो गया। वहाँ ख्याल छोड़ना है क्योंकि वहाँ ख्यालों का ही जगत है। यदि ख्यालों का जगत चला जाये तो सत्य लाना नहीं है। सत्य तो वहाँ है ही। परन्तु ख्याल छोड़ने में बड़ी मेहनत है। ख्यालों को छोड़ना बड़ा कठिन है। अन्यथा स्वप्नों से स्वरूप में जाना आसान है। सुषुप्ति में तो चला ही गया था। पर जाने का ज्ञान नहीं था।

जाग्रत वाला सीधा साक्षी हो सकता है। जाग्रत में दूसरी प्रक्रिया है: ध्यान के द्वारा साक्षी में जाना। पहले ध्यान लगाना फिर ख्याल के प्रकाश में, ख्याल के भगवान में जाना। फिर वहाँ से ध्यान लगाकर निर्विकल्प होना। निर्विकल्प होकर आत्मा में जाना - ये ध्यान की प्रक्रिया के अंग हैं। परन्तु मान्डूक्योपनिषद् में ऋषि कहते हैं कि देह को परे छोड़, ख्यालों को छोड़ दे और अभी तू क्या है? अभी ऐसे ही झटके से तू आत्मस्थ हो जायेगा।

२.८ आत्मा का तृतीय पाद - प्राज्ञ (प्रज्ञानघन)

यत्र सुप्तो न कंचन कामं कामयते न कंचन स्वप्नं पश्यति तत्सुषुप्तम्। सुषुप्तस्थान एकीभूतः प्रज्ञानघन एवानन्दमयो ह्यानन्दभुक्चेतोमुखः प्राज्ञस्तृतीयः पादः।।५।।

(जिस अवस्था में सोया हुआ पुरुष किसी भोग की इच्छा नहीं करता और न कोई स्वप्न ही देखता है उसे सुषुप्ति कहते हैं। वह सुषुप्ति जिसका स्थान है तथा जो एकीभूत प्रकृष्ट ज्ञानस्वरूप होता हुआ ही आनन्दमय, आनन्द का भोक्ता और चेतनारूप मुख वाला है वह प्राज्ञ ही तीसरा पाद है।)

प्राज्ञ आत्मा का तीसरा पाद है। आत्मा के प्रथम एवं द्वितीय पाद को व्यष्टि की दृष्टि से क्रमशः विश्व एवं तैजस बताया। समष्टि की दृष्टि से इन्हीं दो पादों को क्रमशः वैश्वानर एवं हिरण्यगर्भ कहा गया। उसी प्रकार आत्मा के तीसरे पाद को व्यष्टि की दृष्टि से प्राज्ञ तथा समष्टि की दृष्टि से ईश्वर कहते हैं।

जब व्यक्ति में कुछ स्पष्ट न हो तो उसे प्राज्ञ और सम्पूर्ण सृष्टि में कुछ प्रकट न हो तो उसे ईश्वर कहते हैं। अब हम पूछें कि "सृष्टि कहाँ से आई?" "ईश्वर से"। "तुम्हारा जागना कहाँ से निकला", "प्राज्ञ से, सुषुप्ति से।" इसलिये सुषुप्ति जिसका स्थान है, प्रज्ञान जिसका घनीभूत हो गया है अर्थात सिमट गया है, आनन्दमय है वहाँ कोई दुःख नहीं है, आनन्द ही उसका भोग है, चेतना ही केवल भुक् है वहाँ और कुछ नहीं, आँख, कान से नहीं, नाक से नहीं, करके नहीं, छूकर नहीं, देखकर नहीं, चखकर नहीं, पाकर नहीं, सब खोकर, सबको भुलाकर जो आनन्दमय है वह आत्मा का तीसरा पाद प्राज्ञ है।

"यत्र सुप्तो न कंचन कामं कामयते" - जहाँ सोया हुआ यह जीव कुछ भी नहीं देखता। न कोई इच्छा करता है। क्या गहरी नींद में विवाह की कोई इच्छा होती है? धन पाने की? जीने की? नहीं। वहाँ न धन पाने की, न जीने की कोई इच्छा होती है। सुषुप्ति में मृत्यु का भी कोई दुःख अनुभव नहीं होता। इस प्रकार सुषुप्ति में वह "न कंचन स्वप्नं पश्यति" कोई स्वप्न नहीं देखता और न कोई कामना करता है। अन्य को नहीं देखता

और न अन्य की कोई कल्पना करता है। अन्य का कोई ख्याल भी नहीं रहता। यहाँ तक कि अपने विषय में भी "क्या हूँ", "क्या नहीं हूँ" - ऐसा कुछ नहीं सोचता। वहाँ जिज्ञासा तक नहीं होती। यह भी जिज्ञासु को ही सोचना पड़ता है।

जानने की इच्छा भी एक बीमारी है। तकलीफ है। यह ठीक है कि सुषुप्ति में उसकी कोई कामना नहीं रही, परन्तु वहाँ वह कुछ समझ नहीं सका। समस्या हल नहीं हुई। जाग्रत में समस्या हल कर सकता है। जैसे सुषुप्ति में अनजाने में कुछ नहीं चाहता इसी प्रकार यदि जाग्रत में समझकर कुछ न चाहे तो समझो कि समस्या हल हो गई।

जब नींद में खोकर वहाँ कोई तकलीफ नहीं थी तो मृत्यु क्या करेगी? काल क्या करेगा? सबको खोयेगा अथवा तुम्हें (अस्तित्व) खोयेगा? तो जो आज तक खोता रहा है (दृश्य) वही (दृश्य ही) तो खोयेगा। जो जाता रहा है वही तो जायेगा। जो कभी नहीं जाता (अर्थात् अस्तित्व) उसका नींद में भी ख्याल नहीं आया। केवल खो जाने वालों का ख्याल तो गया। परन्तु जो (अस्तित्व) नित्य है उसकी स्मृति नहीं रही। इसलिये सुषुप्ति अज्ञानावस्था है। वह ज्ञानवाली अवस्था नहीं है। इसलिये नींद में मोक्ष तो नहीं होता पर मोक्ष की चिन्ता भी नहीं रहती। सुप्त व्यक्ति को मोक्ष की परवाह नहीं होती। वह वहाँ आनन्द में रहता है।

३

आत्मा का चतुर्थ पाद-I

गत अध्यायों में हमने यह अध्ययन किया कि जो भूत में था, वर्तमान में है और भविष्य में होगा वह, तथा जो त्रिकालातीत है वह सब ॐ ही है। इस प्रकार ॐ के दो रूप हो गये - क्षर तथा अक्षर। क्षर अर्थात् जो काल बाधित है। जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति, सम्पूर्ण सृष्टि - ये सब काल बाधित हैं क्योंकि काल द्वारा समाप्त कर दिये जाते हैं। अक्षर त्रिकालातीत है। उसको जानना ही जीवन का लक्ष्य है। दूसरे मंत्र में यह स्पष्ट किया गया कि जो कुछ भी सुनाई तथा दिखाई देता है अर्थात् मालूम पड़ता है वह तथा जिससे देखा जाता है वह सब ब्रह्म ही है।

तीसरे मंत्र में यह बताया गया कि यह आत्मा चार चरण वाली है अर्थात् चार रूपों में इसका वर्णन हो सकता है। जाग्रत अवस्था इसका प्रथम पाद है। जाग्रत अवस्था के लक्षण बताते समय उपनिषद् ने वही बातें बतायीं जो हमें जाग्रत में प्रत्यक्षतः अनुभव होती हैं। इसी प्रकार चौथे एवं पाँचवे मंत्र में क्रमशः स्वप्न एवं सुषुप्ति अवस्थाओं का हूबहू वैसा ही वर्णन किया जैसी हमें अनुभव होती हैं।

३.१ आत्मा के तीन पाद - जाग्रत, स्वप्न एवं सुषुप्ति का पुनरावलोकन

जहाँ से गिनना प्रारम्भ होता है वहीं से पहले गिनती शुरू करते हैं। चूँकि जाग्रत, स्वप्न एवं सुषुप्ति का ज्ञान जाग्रत में ही होता है, अतः जाग्रत को आत्मा का प्रथम पाद अथवा पहली अवस्था कहा जाता है। इस अवस्था में स्थूल देह तथा इससे सम्बन्धित जगत एवं इसके रिश्ते आदि का पता चलता है। इस अवस्था में आत्मा स्थूल से जुड़कर 19 मुखों के द्वारा काम करती है। आत्मा के इस प्रथम पाद अर्थात् जाग्रत के अभिमानी को व्यष्टि की दृष्टि से विश्व एवं समष्टि की दृष्टि से वैश्वानर कहते हैं।

स्वप्नावस्था के अभिमानी तैजस आत्मा का दूसरा पाद है। (i) स्वप्न जिसका स्थान है, (ii) अन्दर की ओर जिसका ज्ञान है, इस जगत (जाग्रत) को बिलकुल नहीं जानता,

यद्यपि वह बुद्धिजन्य तथा संस्कार जन्य सूक्ष्म जगत को देखता है, (iii) सोया नहीं है, (iv) जो आत्मा स्थूल को जानता है, वही स्वप्नावस्था में सूक्ष्म स्वप्नों को जानता है। (v) स्थूल की तरह उसके भी 7 अंग एवं 19 मुख है - ये सभी आत्मा के दूसरे पाद अर्थात तैजस की विशेषतायें हैं।

प्राज्ञ आत्मा का तीसरा पाद है। सुषुप्ति जहाँ इसका ज्ञान सिमट जाता है, इसका स्थान है। जाग्रत में इसका (आत्मा) ज्ञान बाहर की ओर था, स्वप्न में इसका (आत्मा का) ज्ञान भीतर की ओर था। परन्तु सुषुप्ति में इसका ज्ञान न बाहर की ओर होता है न भीतर की ओर। इस अवस्था में ज्ञान कहीं आता-जाता नहीं है। परन्तु रहता है। उदाहरण की सहायता से समझने का प्रयास करें। सूर्य के प्रकाश में छत पर देखने से बहुत दूर तक क्षेत्र दिखाई देता है। रात्रि में बल्ब के प्रकाश में यदि देखें तो अपेक्षाकृत कम क्षेत्र दिखाई देगा। परन्तु यदि बल्ब को मिट्टी से ढक दें तो कुछ भी दिखाई नहीं देगा। मिट्टी से आवृत्त बल्ब के प्रकाश में कुछ न दिखने से यह निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता कि बल्ब बुझ गया या बल्ब की रोशनी चली गई। अन्धकार में यदि हमें कुछ दिखाई नहीं देता तो इसका अर्थ यह नहीं कि मेरे नेत्रों में कोई फर्क नहीं पड़ा। इसका इतना ही अर्थ निकाला जाना चाहिये कि मेरे नेत्रों की किरणों का प्रकाश बाहर नहीं हो पा रहा और इसलिये वस्तुएँ या दृश्य दिखाई नहीं दे रहे। प्रकाश के अभाव में अन्धकार का दिखाई देना यह सिद्ध करता है कि नेत्रों को दिख रहा है अर्थात् नेत्रों को दिखने का ज्ञान है।

सुषुप्ति में ज्ञान एकीभूत हो जाता है। अर्थात् प्रज्ञानघन हो जाता है। इस अवस्था में वह आनन्दमय होता है। आनन्द ही भोगता है। वहाँ वह स्थूल पदार्थ, सूक्ष्म दुःख आदि नहीं भोगता, केवल आनन्द भोगता है।

"एषोऽस्य परम आनन्दः।" (बृ. उ. ४/३/३२)

(यह इसका परम आनन्द है।)

इस अवस्था में केवल एक मुख चेतना है। जहाँ केवल चेतना हो और इन्द्रियाँ न हों, वहाँ वह आनन्द ही भोग सकता है। अन्य कुछ भोग नहीं सकता क्योंकि और कुछ भोगने के लिये मुख चाहिये। सुषुप्ति में हम दुःख नहीं भोगते।

जाग्रत में यदि सुख भोगते हैं तो इसके साथ दुःख भी भोगते हैं। यदि केवल सुख ही सुख भोगते होते तो फिर बात अलग होती। जाग्रत में सुख-दुःख, हानि-लाभ, जय-पराजय, छोटा-बड़ा, ऊँच-नीच, ये सब द्वन्द्व हैं। जाग्रत की तरह स्वप्न में भी द्वन्द्व हैं। इन

दोनों ही अवस्थाओं में अपने अतिरिक्त अन्य को देखते हैं, दृश्य को देखते हैं, स्वप्न को देखते हैं।

जो अपने अलावा देखा जाये, वह सब स्वप्न कहलाता है।

स्वप्न की इस परिभाषा के अनुसार यदि अपने से अतिरिक्त कुछ दिखता है अथवा देखा जाता है तो वह सब स्वप्न होता है। चूँकि सुषुप्ति में अन्य कुछ दिखाई नहीं देता इसलिए उसमें आनन्द भोगता है। इसका नाम प्राज्ञ है और यही आत्मा का तीसरा पाद है। इस तीसरे पाद अर्थात् सुषुप्ति की पहचान बतायी गयी है,

"यत्र सुप्तो न कंचन कामं कामयते न कंचन स्वप्नं पश्यति तत्सुषुप्तम्॥"

स्वप्न की स्थिति में सोये हुए मनुष्य को देखकर कई कह सकते हैं कि वहाँ तो वह देखता है। अतः कह दिया कि जिस अवस्था में सोया हुआ पुरुष किसी भोग की इच्छा नहीं करता और न ही कोई स्वप्न देखता है वह सुषुप्ति है।

वैसे तो मनुष्य जाग्रत, स्वप्न एवं सुषुप्ति तीनों ही अवस्था में सोया हुआ है परन्तु आम लोग सुषुप्ति एवं स्वप्न दो को ही नींद मानते हैं। 'जाग्रत में भी सोया है' ऐसा स्वीकार नहीं करते। इसका कारण यह है कि हम जगत देखने को जगना मानते हैं। जगत न दिखने को हम स्वप्न मानते हैं। चूँकि स्वप्न में ये (स्थूल वाला जगत) वाला जो आपकी दृष्टि में असली है असली नहीं दिखता। इसलिये आप अपने को सोया मानते हो। स्वप्न में आप जगत की दृष्टि से सोये हो अथवा देखने की दृष्टि से सोये हो। आप जगत न दिखने के कारण सोया कहते हो पर स्वप्न तो आपने ही देखा था। आप ही जाग्रत में देख रहे हो तो आपको सोया हुआ कैसे कहें?

सोयी हुई अवस्था में आत्मा किसी चीज की इच्छा नहीं करता। क्योंकि वहाँ वह कुछ देखता ही नहीं तो क्या चाहेगा? यदि कुछ दिखे तो चाहेगा। यहाँ दो बातें हैं - वहाँ (सुप्तावस्था) दिखता भी कुछ नहीं। दूसरे चाहता भी कुछ नहीं। कुछ न दिखना एवं कुछ न चाहना दो अलग-अलग बातें हैं। सोयी हुई अवस्था में आत्मा को न तो कुछ दिखता है और न कुछ चाहता ही है।

"..... न कंचन स्वप्नं पश्यति" यहाँ स्वप्न का अर्थ केवल रात वाला ही स्वप्न नहीं है। जाग्रत भी स्वप्न है। इसलिये कहा है कि **"मोह निसाँ सबु सोवनिहारा।"**

यदि लोग यह कहें कि "इसे (जाग्रत) स्वप्न क्यों कहते हैं?" तो हम कहेंगे कि उपनिषद इसे स्वप्न कहता है, "जिस अवस्था में सोया हुआ जीव कोई स्वप्न नहीं देखता।"

आप पूछ सकते हैं कि "जाग्रत में सोया हुआ कहाँ है?" जाग्रत में सोया हुआ नहीं है, इसलिये इसको (जाग्रत को) स्वप्न नहीं माना। जहाँ स्वप्न भी नहीं देखता, जगत भी नहीं देखता, तथा अन्य किसी को भी नहीं देखता पर जहाँ नींद होती है - यह आत्मा के तीसरे चरण - सुषुप्ति का लक्षण है। आत्मा वहाँ भी उपस्थित रहती है पर जगत को न देखती है और न चाहती है। यहाँ भी आत्मा जैसी होती है वैसी ही होती है। केवल दफ्तर में बैठने का अन्तर पड़ जाता है। जाग्रत के दफ्तर में बैठती है तो जाग्रत वाले कार्य, स्वप्न वाले दफ्तर में बैठती है तो स्वप्न वाले कार्य। सुषुप्ति में बिना किसी कार्य के मस्त। इसी को प्राज्ञ अर्थात तृतीय पाद बोलते है।

३.२ तृतीय पाद की महिमा - प्राज्ञ का सर्वकारणत्व

एष सर्वेश्वर एष सर्वज्ञः एषोऽन्तयम्येिष योनिः सर्वस्य प्रभवाप्ययौ हि भूतानाम् ॥६॥

(यह सबका ईश्वर है, यह सर्वज्ञ है, यह अन्तर्यामी है और समस्त जीवों की उत्पत्ति तथा लय का स्थान होने के कारण यह सबका कारण भी है)

आत्मा का तीसरा पाद अर्थात् प्राज्ञ ही सर्वेश्वर है। यही सबका - जाग्रत एवं स्वप्न का - ईश्वर है। सुषुप्ति में तो स्वयं रहता ही है। जहाँ ज्ञान समेटकर रहता है और पुनः वहीं से फैला देता है यह वही ईश्वर है। यह सर्वज्ञ है। यह सर्वज्ञ है - यह जल्दी समझ में नहीं आता। सब ज्ञान यहीं से उत्पन्न होते हैं। यह अन्तर्यामी है। यह पदार्थयामी नहीं है। वह स्वप्न के ही जानने वाला नहीं है अपितु सुषुप्ति का भी साक्षी, अन्तर्यामी है। इसके बिना कोई ज्ञान दुनिया में नहीं होता। जड़ता में भी जो चेतन रहता है अर्थात जड़ता में भी जिसका ज्ञान रहता है, जो सुषुप्ति में रहता है, वही ईश्वर पेड़ में, पहाड़ मे, पृथ्वी में, मुर्दे में, सबमें रहता है। वह ईश्वर ही सबका मालिक है। सबका नियमन करता है। सबको समेट लेता है। सबको फिर फैला देता है। चूँकि आपको करते नजर नहीं आते, इसलिये आपको समझ नहीं आता। परन्तु सुषुप्ति से जाग्रत मे आने के लिये क्या आपको कोई परिश्रम करना पड़ा? परमात्मा का ऐसा दिव्य विधान है कि वह तीसरी अवस्था में

सबको समेट लेता है। नींद में चिकित्सा, वकालत, इन्जीनियरिंग, आदि सभी प्रकार की शिक्षा-दीक्षा लुप्त हो जाती है। जागने पर प्रत्येक व्यक्ति में उसकी शिक्षा-दीक्षा, आदि सभी ज्यों की त्यों प्रकट हो जाती है। यदि नींद में किसी दिन अपनी शिक्षा, अर्जित-तकनीक आदि को भूल जाते तो पता चलता। परन्तु ईश्वर के दिव्य विधान से ज्यों का त्यों सब समेट लिया जाता है और फिर फैला दिया जाता है। जिस प्रकार मकड़ी जाला निकालती है और फिर निगल जाती है उसी प्रकार प्राज्ञ सबको बिखेर देता है और फिर समेट लेता है। यह कार्य रोज होता रहता है। रोजाना यह कार्य होते हुए ऐसा लगता है जैसे उसकी सत्ता मात्र से हो रहा हो। इसलिये यह सबका ईश्वर, सर्वज्ञ तथा अन्तर्यामी है।

'एष योनिः' - जिससे पशु, पक्षी, मनुष्य, आदि पैदा होते हैं उसे योनि कहते हैं। सुषुप्ति का अभिमानी यह प्राज्ञ योनि है। यहीं से सब निकलता है। चाहे सुषुप्ति हो, मृत्यु हो अथवा महाप्रलय ही क्यों न हो, सब यहीं से निकलता है। अप्रकट होता है, फिर प्रकट हो जाता है।

अव्यक्तादीनि भूतानि व्यक्तमध्यानि भारत।
अव्यक्तनिधनान्येव तत्र का परिदेवना॥२/२८

(श्रीमद्भगवद्गीता)

(हे अर्जुन, सम्पूर्ण प्राणी जन्म से पहले अप्रकट थे और मरने के बाद भी अप्रकट हो जाने वाले हैं, केवल बीच में ही प्रकट हैं, फिर ऐसी स्थिति में क्या शोक करना?)

मृत्यु के बाद फिर से पैदा हो जाते हैं। सोने के बाद फिर जग जाते हैं। फिर वैसा का ही वैसा सब निकल आता है। इसलिये यह "सर्वस्य योनि" अर्थात् सबकी योनि है। इसलिये साफ कह दिया "प्रभवाप्ययौ हिभूतानाम्" कि यह प्राणियों का प्रकट और लय होने का स्थान है। कौन? यह सुषुप्ति का अभिमानी प्राज्ञ आत्मा।

प्राज्ञ (प्रज्ञानघन) आत्मा, विश्वात्मा, तैजस आत्मा आदि सबका लयस्थान और प्रकटस्थान है।

जाग्रत, स्वप्न एवं सुषुप्ति इन तीनों की महिमा अलग-अलग है। जाग्रत की खूबी यह है कि यह समझने में समर्थ है। स्वप्न की विशेषता यह है कि यह सब कुछ झूठा खड़ा कर लेता है और उसे साफ-साफ देख लेता है। सुषुप्ति सबको दुःख एवं चिन्ता से मुक्त कर देती है। फिर चाहे कोई व्यक्ति पुण्यात्मा हो अथवा पापी या गृहस्थ। उतनी देर (नींद के दौरान) कोई कष्ट उसे नहीं सताता।

ये तीन अवस्थायें किसकी नहीं होती? सबकी होती हैं। चौथा जिसकी (आत्मा) चर्चा आगे की जायेगी भी सबके पास होता है। जिन्होंने जाना है तथा जिन्होंने नहीं जाना है उन सबके पास आत्मा होती है। अन्तर मात्र इतना ही है कि जिन्होंने जाना है वे सब सुखी हैं और जिन्होंने नहीं जाना है वे सब दुखी हैं। ऐसा नहीं है कि अनज्ञान लोगों के पास आत्मा नहीं होती। हाँ उनको उसका (आत्मा) पता नहीं होता परन्तु होती उन सबके पास भी है। इसलिये उसको (आत्मा को) जानना है। तीन अर्थात् जाग्रत, स्वप्न एवं सुषुप्ति को तो आप जानते हैं। हो सकता है कि इन तीनों के नाम ठीक-ठीक न जानते हों पर ये तीन होते हैं - ये सभी जानते है। चौथा भी है परन्तु उसके होने का भरोसा अथवा ज्ञान अभी नहीं है। उसके होने के लाभ अभी प्राप्त नहीं हैं। उससे चौथे को प्राप्त करने की कथा आगे होगी।

३.३ आत्मा के चतुर्थ पाद का विश्लेषण

नान्तः प्रज्ञं न वहिष्प्रज्ञं नोभयतः प्रज्ञं न प्रज्ञानघनं न प्रज्ञं नाप्रज्ञम्। अदृष्टमव्यवहार्यमग्राह्यम लक्षणम-चिन्त्यमव्यपदेश्यमेकात्मप्रत्ययसारं प्रपंचोपशमं शान्तं शिवमद्वैतं चतुर्थमन्यन्ते स आत्मा स विज्ञेयः ॥७॥

(तुरीय को ऐसा मानते हैं कि वह न अन्तःप्रज्ञ है, न वहिष्प्रज्ञ है, न उभयतः प्रज्ञ है, न प्रज्ञानघन है, न प्रज्ञ है और न अप्रज्ञ है। वल्कि अदृष्ट, अव्यवहार्य, अग्राह्य, अलक्षण, अचिन्त्य, अव्यपदेश्य, एकात्मप्रत्ययसार, प्रपंच का उपशम, शान्त, शिव और अद्वैतरूप है। वही आत्मा और वही साक्षात जानने योग्य है)

अभी तक आत्मा का प्रथम पाद, द्वितीय पाद तथा तृतीय पाद हुआ। अब उसी आत्मा के चतुर्थ पाद का विश्लेषण करेंगे। तीन पादों को तो इस प्रकार बता दिया कि "वहाँ ऐसा होता है", "वहाँ वह कुछ नहीं चाहता", आदि-आदि। ये चौथा कैसा होता है? उपनिषद् ने इसको सीधा बताना शुरू नहीं किया। क्योंकि उपनिषद कहता है

"यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह।"

(तैत्तिरीयोपनिषद नवम अनुवाक)

यह वाणी से बताया नहीं जाता। हम किससे बता रहे हैं? वाणी से। "वाणी से नहीं बताया जाता" का अभिप्राय यह नहीं है कि यह बताया नहीं जायगा। इसका इतना

ही अर्थ है कि वाणी से उसका सीधा कथन नहीं होगा। वाणी से निषेध द्वारा बतायेंगे। वह तुरीय अर्थात् चतुर्थ पाद क्या है? "न अन्तः प्रज्ञं" जो अन्तः प्रज्ञ है, वह (चतुर्थ पाद) नहीं है। "न बहिष्प्रज्ञं" - वह चौथा बहिष्प्रज्ञ अर्थात् प्रथम पाद नहीं है। वह चौथा प्रथम पाद तथा द्वितीय पाद दोनों ही नहीं है। वह तैजस भी नहीं है, प्राज्ञ भी नहीं है।

किसी के विषय में बताने के दो तरीके होते हैं। एक विधि में उँगली के संकेत द्वारा सीधा बताया जाता है कि अमुक वह व्यक्ति है। दूसरी विधि निषेध की होती है, जिसमें अमात्र वाले गुणों को व्यक्त करने के लिए उससे निषेध का उपयोग करते हैं। एक उदाहरण द्वारा समझने का प्रयास करें।

मान लो स्नानघर से किसी व्यक्ति ने आपकी घड़ी चुरा ली हो और आप उसका नाम इत्यादि परिचय जानते हैं। परन्तु डर आदि के कारण या व्यवहारिकता के कारण आप अपनी जुबान से उसका नाम न लेना चाहते हों परन्तु फिर भी बिना नाम लिये उसके विषय में बताना चाहते हों तो उसकी क्या विधि है? उपनिषद् इसको बताने की विधि बताता है। जितने व्यक्ति उपस्थित हैं उनमें से एक-एक पर हाथ रखकर बताओ कि अमुक के पास घड़ी नहीं है। सब पर हाथ रख देना। मात्र एक पर न रखना। समझ में आ जायेगा कि वही चोर है।

उपनिषद् कहता है कि हम ब्रह्म को सीधा नहीं बताते। रामचरितमानस में उल्लेख आता है कि वनवास जाते समय लोगों ने सीताजी से राम तथा लक्ष्मण के विषय में पूछा। सीताजी ने घूँघट खोलकर भौंहे टेढ़ी करके इशारे से बता दिया। तो बताने का यह भी तरीका होता है। उपनिषद आत्मा को निषेध के तरीके से इस प्रकार व्यक्त करता है, "आत्मा ऐसी नहीं है" "आत्मा ऐसी नहीं है"। जिस चौथे अर्थात् तुरीय को जानना है उसके विषय में बताता है कि वह तुरीय आत्मा जाग्रत के लक्षणों वाला नहीं है। स्वप्न के लक्षणों वाला नहीं है। सुषुप्ति के लक्षणों वाला भी वह नहीं है।

"न अन्तः प्रज्ञं न बहिष्प्रज्ञं नोभयतः प्रज्ञं न प्रज्ञानघनं न प्रज्ञं न अप्रज्ञम्"। बाहर की ओर जो ज्ञान जा रहा है, जो मन में ज्ञान है, जो सुषुप्ति में अज्ञान है वह तुरीय या चतुर्थ पाद नहीं है क्योंकि वह न अज्ञ है, न प्रज्ञ है। जानने की विधि है कि पहले तीन अर्थात् बहिष्प्रज्ञ, अन्तः प्रज्ञ तथा प्रज्ञानघन को जानें। फिर ध्यान करते-करते न जगत को जानें, न स्वप्न की कल्पना को जानें अर्थात् जानने का प्रयास न करें और न भीतर किसी अज्ञान को। केवल ज्ञान रहे। जब केवल ज्ञान रहे तो वह प्रज्ञ। ज्ञान रहते-रहते कुछ न रहे, केवल ज्ञान

रहे। फिर थोड़ी देर के बाद मूदना अर्थात अज्ञान आ जाये। अब यहाँ जो अज्ञान आया वह पदार्थ का अज्ञान नहीं था। अभी आप सुषुप्ति में अज्ञान को मानते हो। 'जाग्रत में अज्ञान नहीं है' ऐसा मानते हो। अब थोड़ा समझने का प्रयास करें। आपको जाग्रत में जगत का ज्ञान शुरू हो गया। अपना ज्ञान नहीं हुआ। सुषुप्ति में अज्ञान भी जगत का हुआ। सुषुप्ति में आत्मा का अज्ञान नहीं हुआ। आत्मा का अज्ञान तो पहले से ही था। या ऐसे कहें कि आत्मा का ज्ञान पहले ही नहीं था। पहले जगत का ज्ञान था, स्वप्नों का ज्ञान था। तो नींद में किसका अज्ञान हुआ? जगत का। जिस जगत का ज्ञान जाग्रत में था उसी का अज्ञान नींद में हुआ। आत्मा का अज्ञान नींद में नहीं हुआ। क्या आप आत्मा को पहले से जानते थे? नहीं। चूँकि जाग्रत में भी हम केवल जगत को ही जानते थे। अतः नींद में भी जगत का ही अज्ञान हुआ। आत्मा से अपरिचित, आत्मा से अनभिज्ञ, उसकी महिमा से अपरिचित हम पहले से ही थे। जब जग रहे थे तब भी, स्वप्न में भी तथा सुषुप्ति में भी। इसलिये स्वप्न एवं सुषुप्ति में केवल जाग्रत जगत के ज्ञान में अन्तर पड़ा। आप नींद में सोये किससे? आत्मा की ओर से अथवा जगत की ओर से। जगत की ओर से सोये होने पर आपका स्वप्न हुआ। भाव यह है कि जाग्रत में जगत देखते थे, जगत को देखना बन्द हो गया तो स्वप्न देखने लगे। जब स्वप्न देखना भी बन्द हो गया तो नींद में आ गये। ये तीनों जिन्हें आप ज्ञानावस्था कहते हो, ये जगत की ज्ञानावस्था हैं। जिसे आप स्वप्न कहते हो वह भी स्वप्न की ज्ञानावस्था है। जिसको अज्ञानावस्था कहते हो वह भी जगत की अज्ञानावस्था है।

आत्मा की अज्ञानावस्था तो अनादि है।

अनादिमायया सुप्तो यदा जीवः प्रबुध्यते।
अजमनिद्रमस्वप्नमद्वैतं बुध्यते तदा॥

(जिस समय अनादि माया से सोया हुआ जीव जागता है अर्थात् तत्त्वज्ञान लाभ करता है उसी समय उसे अज अनिद्र और स्वप्नरहित अद्वैत आत्मतत्त्व का बोध प्राप्त होता है।)

आत्मा का अज्ञान तो सदा से है। आत्मा से हम कभी परिचित हुए ही नहीं। आत्मा का अज्ञान नींद में नहीं हुआ। नींद में अज्ञान तो हुआ परन्तु जगत का। स्वप्न में भी केवल इस स्थूल जगत का अज्ञान हुआ। स्वप्नों का ज्ञान वहाँ रहा। जगत के नाते ही हम स्वप्नों को सोये हुए कहते हैं। अन्यथा ज्ञान तो वहाँ भी है।

जब सन्त जाग्रत में व्यक्ति को सोया कहते हैं तो आत्मा के अज्ञान के नाते कहते हैं। जगत को तो वह देख ही रहा है।

इसी प्रकार सुषुप्ति में सोया कहने को पूरा सोया हुआ इसलिये कहते हैं कि आत्मा के प्रति तो वह पहले ही नहीं समझता था और जो जगत को देखता था वह भी दिखायी नहीं देता। इसलिए एक सोना (आत्मा के प्रति अनभिज्ञ) तो अनादि था और एक अभी नींदवाला है। इसलिये इसे अच्छी तरह सोया कहते हैं। स्वप्न वाला जगत भर से सोया है, बाकी खूब देख रहा है।

आप स्वप्न में देखते हो अथवा नहीं? सुनते हो अथवा नहीं? दुखी होते हो अथवा नहीं? दुखी होने का मतलब तुम थे कि नहीं? स्वप्न में पड़ौसी दुखी था या तुम? पड़ौसी ने स्वप्न देखे थे कि तुमने? फिर सोया कैसे कहते हो? स्वप्न में सोकर हम स्वप्न देखते हैं तो सोना वहाँ इसी अर्थ में है कि जगत को भूल गये थे। यदि देखने के अर्थ में कहें तो स्वप्न वाला भी जाग रहा है, देख रहा है। जिस अर्थ में स्वप्न में देख रहे थे उसी अर्थ में आप अभी भी जागे हो।

जाग्रत में देख रहे हो, इलाज कर रहे हो, इन्जीनियर हो, डाक्टर हो, शादी कर रहे हो, दुकान कर रहे हो, नौकरी कर रहे हो। जगत देख रहे हो बस इसी अर्थ में जागे हो। पर केवल जगत देखने को हम जागना नहीं कहते।

जगत देखना और अपने को न पहचानना इसको ऋषि स्वप्न कहते हैं।

जब न जगत देखें और न अपने को पहिचाने उसे सुषुप्ति कहते हैं। इस प्रकार न तो हम प्रज्ञ हैं और न अप्रज्ञ। यहाँ चतुर्थ पाद बताते समय तीन तो लक्षण बता दिये तथा यह बता दिया कि वह (आत्मा) प्रज्ञ भी नहीं है, अप्रज्ञ भी नहीं है। अर्थात् चौथे पाद में जानना भी नहीं है और न जानना भी नहीं है। ऐसा क्यों? क्योंकि उसमें (चतुर्थ पाद में) न जानना सुषुप्ति की तरह है और जानना जाग्रत की तरह है। मान लो जाग्रत जानना बन्द कर दे, स्वप्न भी जानना बन्द कर दे तो केवल जानना बचेगा और जानना भी न बचे तो न जानना बचेगा और न जानना जाये तो जानना बचे। परन्तु जानना और न जानना एक ही के पास रहते हैं। वह एक कौन है? वह स्थाई रूप से जानना है कि ना जानना है? तो जानना और न जानना भी वह चौथा (तुरीय) नहीं है। चौथा तो जानने एवं न जानने से विलक्षण है। जिस दिन आप आत्मा को जानने के लिये जानने और न जानने दोनों का ही

निषेध कर दो तो तुम जानने और न जानने दोनों के आश्रय निर्व्याचित अर्थात् नित्य निर्विकार में स्थित पाओगे।

विकार का अनुभव रस्से में था। विकार का अनुभव स्वप्न में था। ध्यान में कभी ज्ञान, कभी अज्ञान, कभी सजगता रहती थी। जब जगत की कल्पना न रहे तब भी कभी आप जाग रहते हो, कभी सो जाते हो। मेरा एक निजी अनुभव है। एक बार लेटे-लेटे ध्यान किया। शरीर आदि की कल्पना चली गयी। मै अन्दर जाग रहा था। जागते-जागते मैं जगत की कल्पना से रहित हो गया। तदुपरान्त जगत की कल्पना चली गई और फिर होने की कल्पना भी चली गयी। होने की कल्पना जाने के बाद बेखबरी भी आ गई। बेखबरी के भी चले जाने के बाद मुझे अपने होनेका ख्याल आया। तब मुझे अनुभव हुआ कि होने का ख्याल रहना और होने का ख्याल न रहना ये दोनों ही मेरे स्वरूप में कल्पित हैं।

३४　अस्तित्व को समझने में चिन्तन की प्रक्रिया

आपको भी देह होने का ख्याल, पुरुष या स्त्री आदि होने का ख्याल अपने होने के ख्याल के बाद हुआ होगा। परन्तु वह पकड़ में नहीं आया। भूल से पहले देह होने का ख्याल बुद्धि में बैठ गया। अब मैं आपसे ही पूछता हूं कि होने के ख्याल के बाद पहले देह होना आयेगा या केवल होने का ख्याल? पहले होने का ख्याल हुआ होगा। पुनः पूछता हूं कि पहले दीपक के जलने पर घर प्रकाशित होगा या अंधेरे में प्रकाशित होगा। परन्तु अपनी नासमझी के कारण दीपक के जलने पर उसको कमरा दिखा, उसको अपने जलने का ख्याल ही नहीं रहा। तो जब आत्मा में जगना हुआ तो आत्मा में प्रज्ञता आ गई और जानना आया। जानना आते ही जगत देखा। इसके बाद जगत जानना बन्द हो गया! फिर स्वप्न आया। परन्तु स्वप्न भी बचा नहीं। तो पहले जानना बचायें। जब जानना भी चला जाये और फिर जानना आये तो विचार करें कि "आप कौन हो"? आपके रहते जानना आया और जानना चला गया। मै कभी-कभी साफी (एक वस्त्र जिसे प्रायः सिर के ऊपर कानों से होता हुआ लपेटा जाता है) के उदाहरण द्वारा समझाता हूं।

यह समझो कि साफी का ज्ञान जानना है। साफी के ज्ञान का अभिप्राय अपने अस्तित्व को जानना। साफी के ज्ञान को मैं शरीर का जानना नहीं कहूंगा। साफी (अस्तित्व) का ज्ञान जाग्रत नहीं है क्योंकि यदि यह जाग्रत होता तो देह जानता। यह

(अस्तित्व का प्रतीक साक्षी) स्वप्न होता तो वह सूक्ष्म को जानता। यदि वह नींद होता तो कुछ न जानता। अब मैंने जाग्रत एवं स्वप्न दोनों ही सपने हटा दिये। सिर्फ जगा। केवल जानना है। क्या जानना? "हूँ" केवल इतना जानना। अब इसको केवल "हूँ" का ज्ञान है। बाह्य जगत का नहीं। इसके बाद "हूँ" का ज्ञान खिसक गया तो ज्ञान गया और अज्ञान आया। इस प्रकार ज्ञान एवं अज्ञान दोनों ही बारी-बारी से आये और चले गये। परन्तु इन दोनों का साक्षी कभी नहीं आया और कभी नहीं गया। वह सदैव ज्यों का त्यों रहा।

दुनिया का जानना बहुत मोटा है। स्वप्न देखना बहुत मोटा है। दीपक सिर्फ कमरे में प्रकाश करे यह बहुत छोटी बात है। दीपक कब जला? कब बुझा? बल्ब जलकर कमरे में रोशनी करता है। बल्ब प्रकाशित होता है - यह एक अलग बात है। हमें रोशनी (मन) को यह समझना है कि तू कमरे के चक्कर को छोड़, बाहर देखना छोड़। तू यह विचार कर कि तू बिना दृश्य के जल रही है। बिना किसी के चमकाये आप जल रही है। थोड़ी देर बाद वह बुझ गई। रोशनी बारी-बारी से बुझ गई, जल गई। परन्तु रोशनी के बुझने और जलने को कौन जानेगा? बिजली। बिजली के रहते रोशनी हो गई और नहीं रही। 'रोशनी नहीं रही।' - इसको बिजली ही जान सकेगी।

दुनिया की बिना कोई कल्पना किये यदि आप जगें और सोयें तो ये (जगना और सोना) किसको पता चलेंगे? मन को। इसका अर्थ यह निकला कि जगना और सोना मेरा स्वरूप नहीं है। इस पर थोड़ा और चिन्तन करें क्योंकि यह तर्क का विषय है और इस विषय में अभ्यास एवं तर्क दोनों ही उपयोगी होंगे।

३.५ मैं जाग्रत (जगना) क्यों नहीं हूँ?

मैं यह क्यों न मानूँ कि "जगना मेरा स्वरूप है?" दूसरे शब्दों में "जगना ही मैं हूँ" ऐसा क्यों न स्वीकार करूँ? जगना और मैं ये दोनों एक ही क्यों नहीं हैं? क्योंकि मेरे रहते जगना नहीं रहा। यदि जगना और मैं एक होते तो जगने के न रहने पर "मैं" भी न रहता। इसी प्रकार यदि सुषुप्ति और मैं एक होते तो सुषुप्ति के जाने पर मैं भी न रहता। यदि स्वप्न वाला "मैं" मैं होता तो स्वप्नों के गायब या लुप्त हो जाने पर "मैं" भी चला जाता। ये बारी-बारी से चले गये। यद्यपि ये मेरे से भिन्न भी नहीं हैं। यदि ये मेरे से भिन्न होते, तो बिना मेरे होते? मेरे से स्वतन्त्र जगना कहीं होता? मेरे से स्वतन्त्र जगना और सोना नहीं रहते। इसलिये ये मेरे आश्रित हैं। मैं इनका आश्रय हूँ।

अभी मैं स्वयं को क्या समझता हूं? यही कि "जगना मै हूं"। यद्यपि जगना मैं हूं और जगना मुझसे स्वतन्त्र नहीं है परन्तु जगना जिससे होता है उसे भूलकर आने-जाने वाली जाग्रत अवस्था को अपना आपा मान लेते हो, यही भ्रान्ति है।

अभी मै आपसे पूछना चाहूंगा। क्या गाँठ ही साफी है? (साफी में गांठ लगाकर प्रश्न पूछा है) हाँ। (साफी की गाँठ खोलकर पुन प्रश्न पूछा गया है) क्या अब गाँठ ही साफी है? यदि गाँठ ही साफी है और साफी ही गाँठ है तो गाँठ क्यों नहीं बची? और यदि गाँठ ही नहीं बची और साफी एवं गाँठ एक हैं तो अब साफी मरी क्यों नहीं? तर्क की दृष्टि से यह कहा जा सकता है कि यदि साफी एवं इसमें लगी गाँठ एक ही हैं तो (i) साफी के रहने पर गाँठ भी बनी रहनी चाहिए या (ii) फिर गाँठ के न रहने पर साफी की भी मृत्यु हो जानी चाहिए।

उपरोक्त दृष्टान्त में साफी अस्तित्व का प्रतीक है और साफी में लगी गाँठें जाग्रत, स्वप्न एवं सुषुप्ति नामक तीन अवस्थाओं की प्रतीक हैं। जाग्रत के चले जाने पर तुम्हारी मृत्यु नहीं हुई। स्वप्न के चले जाने पर भी तुम नहीं मरे। सुषुप्ति के जाने पर भी तुम बचे रहे। तब मैं फिर इनको (जाग्रत, स्वप्न एवं सुषुप्ति को) मैं (अस्तित्व) कैसे कहूं? यदि इन्हें (जाग्रत, स्वप्न एवं सुषुप्ति को) मै (अस्तित्व) कहूं तो इनके न रहने से मुझे न रहना चाहिये। पर इनके न रहने पर भी मैं रहता हूं। इसका सच्चा सबूत आप स्वयं हैं।

अदृष्टमव्यवहार्यमग्राह्यमलक्षणमचिन्त्यमव्यपदेश्यमेकात्म प्रत्ययसारं प्रपंचोपशमं शान्तं शिवमद्वैतं चतुर्थं मन्यन्ते स आत्मा स विज्ञेयः ॥

अदृष्ट, अव्यवहार्य, अग्राह्य, अलक्षण, अचिन्त्य, अव्यपदेश्य, एकात्मप्रत्ययसार, प्रपंच का उपशम, शान्त, शिव, अद्वैत, - ये किसके नाम हैं? चौथे आत्मा के। कौन-कौन से नाम? 'प्रपन्चोपशमम्, शान्तम्, शिवम॥' इसलिये हम लोग बोलते है - शिवोऽहम्। आत्मा शिव है। आत्मा शान्त है।

३.६ ब्रह्माकुमारियों का दुष्प्रचार एवं अद्वैतवाद तथा शिवोऽहम्।

ब्रह्माकुमारियाँ कहती हैं कि ये शिवोऽहम् कहने वाले मनुष्य आत्माओं को भटकाते हैं। वे उपनिषदों का खण्डन करती हैं क्योंकि उपनिषदों में "शिवोऽहम्" की घोषणा की गई है। आत्मा शिव है तथा अद्वैत है। वहाँ द्वैत नहीं है, नानत्व नहीं है। यहाँ (व्यवहार में) एक दूसरे का विरोध है। परन्तु वहाँ (अध्यात्म में) कोई विरोध नहीं है। उसी का नाम चौथा है। चौथे का नाम शिव है। जिस प्रकार आत्मा के तीन पादों - प्राज्ञ, तैजस एवं वैश्वानर को बताया उसी प्रकार चौथे का नाम अद्वैत शिव प्रपंचोपशमम् है। उसके लक्षण क्या हैं? अलक्षण, अचिन्त्य, आदि। स्वप्नों का ख्याल आयेगा, औरों का ख्याल आयेगा, आत्मा का क्या ख्याल आयेगा? आत्मा में तो सारे ख्याल आते हैं। इसलिये वह अचिन्त्य है, अव्ययपदेश्य है, एकात्म प्रत्ययसार है। वह एक, सब प्रत्ययों का सार है, सब प्रतीतियों का सार है। प्रतीति सार नहीं है। वह प्रतीतियों का सार है।

४

आत्मा का चतुर्थ पाद-II

४.१ तुरीय को जानने की आवश्यकता

पिछले अध्याय में उस मन्त्र का प्रारम्भ किया था जो जीवन का लक्ष्य है। भले ही आप जाग्रत की व्याख्या और विश्लेषण न कर सकें किन्तु जाग्रत के जगत का सब कुछ आपको पता चल रहा है। जाग्रत में यह भी निश्चित है कि एक चेतन और एक जड़ है। जड़ आपका भोग्य है, आप अर्थात् चेतन उसके भोक्ता हैं। जाग्रत के भोग स्थूल हैं परन्तु भोग आप रहे हैं - ऐसा आपको स्वयं लगता है। भोक्ता नहीं हैं - यह नहीं लगता। 'भोगते हैं' - यह लगता है और इसीलिए कल्याण की, मोक्ष की इच्छा है। यदि जाग्रत के स्थूल शरीर एवं स्थूल पदार्थों का आपको सुख न मिला होता तो इसमें बंधते नहीं। यदि इससे कष्ट न मिलता होता तो इससे छूटने की इच्छा भी न करते। सूक्ष्म अवस्था में यह उस स्वप्न को देखता है और स्वप्न के हानि-लाभ, सुख-दुःख का अनुभव भी करता है। और वहाँ भी (स्वप्न में) अपने अलावा और भी कुछ होता है। स्वयं आप होते हैं। उनमें अपने-पराए भी होते हैं। सुख-दुःख होते है। कभी-कभी जब सुख वाले की नींद टूटती है तो जाग्रत अवस्था का लाभ तो होता है, परन्तु सुख के न रहने का हल्का-सा कष्ट भी लगता है। लगता है कि और थोड़ी देर सोए रहते तो अच्छा रहता। किन्तु यदि नुकसान वाला बुरा स्वप्न चल रहा हो और नींद टूट जाये तो बहुत राहत मिलती है। तो नींद खुलने का सबसे ज्यादा सुख उसको मिलता है जो स्वप्न में दुःखी होता है। इसीलिए भगवान कृष्ण ने कहा है

"जन्म-मृत्युजराव्याधि दुःखदोषानुदर्शनम"

पहले जगत के दुःखों को देखो। जिसने जगत में अभी दुःख देखने शुरू नहीं किये है, वह मुक्ति कैसे चाहेगा? उसे जगना पसन्द नहीं आएगा। जगत से छूटना उसे अच्छा नहीं लगेगा। दुःख के बिना मुक्ति सम्भव कैसे होगी? इसलिए स्वप्न से मुक्त होने का आनन्द उन्हें ही मिलता है जो स्वप्न में मर रहे थे। स्वप्न में किसी की मृत्यु हो रही हो, कोई गुण्डे

लूट रहे हों, शेर ने घेर लिया हो और कहीं ऐसे में नींद टूट जाये तो राहत मिलती है क्योंकि उस स्वप्न से मुक्त होने के लिए जाग्रत का सत्य ही पर्याप्त है। उस स्वप्न से छूटने के लिए आत्मा का ज्ञान जरूरी नहीं है। इसीलिए उस स्वप्न के दुःख से छूटने के लिए उपनिषद की भी जरूरत नहीं है। गुरु की भी जरूरत नहीं है। इस जाग्रत जगत की प्राप्ति होते ही स्वप्न से छुटकारा हो जाता है। यों तो जाग्रत के जगत से छुटकारा स्वप्न में हो जाता है। परन्तु उस समय जगत से छुटकारा हो गया है - ऐसा किसी को नहीं लगता क्योंकि वहाँ भी जगत ही होता है और हू-बहू ऐसा ही होता है। इसलिए मैं `जाग्रत से छूट जाता हूँ या, छूट गया हूँ', ऐसा स्वप्न वाला कभी भी नहीं मानता। जाग्रत वाला `स्वप्न से छूट गया' ऐसा तो मानता है परन्तु `जगत से छूट गया हूँ' ये स्वप्न वाला नहीं मानता क्योंकि उसको लगता ही नहीं कि यह दूसरे वाला जगत है। यदि वहाँ (स्वप्न में) लगने लग जाता कि `एक जाग्रत जगत था, उससे मैं छूट गया हूँ' तो इस जगत से भी छुट्टी हो जाती। यदि इस जगत से छुट्टी स्वप्न में हो जाती, और स्वप्न वाले जगत से छुट्टी जाग्रत में होती तो शुम्भ-निशुम्भ की तरह हमें दोनों ही अवस्थाओं से मुक्ति मिल जाती। शुम्भ और निशुम्भ दो राक्षस थे और देवी ने इन दोनों को एक-दूसरे से मरवा दिया। फिर भी एक बात और बताएँ। वैसे तो स्वप्न जाग्रत को मार देता है और जाग्रत में स्वप्न की मौत का लाभ मिलता है, परन्तु स्वप्न में जाग्रत की मौत का आनन्द नहीं मिलता। इसलिए जाग्रत की मृत्यु हमने आनन्द से कभी नहीं देखी। परन्तु जगकर ख्याल करने पर ईमानदार जाग्रत यह मान लेगा कि `यहाँ मैं नहीं था।' मान लो स्वप्न में नहीं समझ आया तो जागने पर यह समझ सकते हो कि "स्वप्न में जगत नहीं है।" `स्वप्न नहीं है' यह जागकर अनुभव कर रहे हैं। परन्तु, `स्वप्न में जगत नहीं है' ऐसा हम स्वप्न में अनुभव नहीं कर रहे हैं। तो जागकर तो ये अनुभव कर सकते हो कि स्वप्न में यह नहीं था। पर जाग्रत अवस्था और जाग्रत में इसी को "नहीं था मानें" यह जाग्रत वाले को स्वीकार नहीं है। जैसे मेरे लड़के की शरारत और दूसरे लड़के की शरारत अलग-अलग होती है। मेरा लड़का कम शरारती है, मेरे लड़के ने तो धोखे में ऐसी बात की है। मेरे लड़के ने शराब भी पी ली, चोरी भी की, गलती भी की पर क्षमा करने के योग्य है। और दूसरे का? दण्ड के लायक होता है। तो चूँकि जाग्रत में सोचना शुरू करें तो यह लगेगा कि जाग्रत जगत का कुछ भी स्वप्न में नहीं था। स्वप्न में यह नहीं समझा कि वहाँ जाग्रत जगत कुछ नहीं है क्योंकि वह जगत का ही रूप था। यहाँ

(जाग्रत में) उसको (स्वप्न) झूठा जान लेता है, पर अपने जाग्रत की झुठाई को नहीं जानता और न मानने को तैयार है क्योंकि स्वप्न में ये (जाग्रत) नहीं था। जाग्रत और स्वप्न में यह विशेषता है। यही कारण है कि जाग्रत जगत के दुःखों से छूटने में कठिनाई पड़ रही है। इसलिए चौथे पाद को जानना आवश्यक है।

४.२ चतुर्थ पाद की महिमा

प्रथम पाद (जाग्रत) में द्वितीय पाद को (स्वप्न) जाना। सुषुप्ति में प्रथम एवं द्वितीय पाद नहीं रहे। परन्तु `स्वप्न है' - ऐसा नहीं जाना। चतुर्थ पाद की ही यह महिमा है कि सब कुछ स्वप्न हो जाता है। स्वप्न भी स्वप्न, जाग्रत भी स्वप्न, सुषुप्ति भी स्वप्न अर्थात मेरे स्वरूप में तीनों स्वप्न है - जिस समय यह जान लिया जाता है तो समझना चाहिए कि चतुर्थ पाद में, आत्म पाद में स्वरूप में जाग गए। उपनिषद् का यह मन्त्र कि ''न अन्तःप्रज्ञम'' यही बताता है। जाग्रत में स्वप्न नहीं रहता, सुषुप्ति नहीं रहती। सुषुप्ति में स्वप्न और जाग्रत नहीं रहते। इसी प्रकार स्वप्न में ये जाग्रत और सुषुप्ति नहीं रहती। इनका न रहना बारी-बारी से देखा है पर तीनों का न रहना अभी तक हमने एक साथ नहीं देखा। असल में एक नहीं रहता तो एक सत्य हो जाता है। जब स्वप्न नहीं रहता तो जाग्रत सत्य हो जाता है। और जब सुषुप्ति रहती है तो ये दोनों नहीं दिखते। असत्य हो जाते हैं - ऐसा तो नहीं कह सकते किन्तु रहते नहीं हैं। सुषुप्ति में ये नहीं रहते - यह बात बिल्कुल सच है। सुषुप्ति वाले को ये दोनों कुछ परेशान नहीं करते। उसे लगता है कि मै नींद में जगत भूल गया था, इसलिए दुःख नहीं हुआ। पर उसको यह नहीं लगता कि परेशानी तो सचमुच में कुछ थी ही नहीं। आंखें खुलने के बाद स्वप्न वाला व्यक्ति यह मानता है कि स्वप्न कुछ है ही नहीं। वो तो झूठ है। वहाँ दुःख नाम की कोई बात ही नहीं है वह यह नहीं मानता कि ''मैं भूल गया हूँ, अज्ञानी हो गया हूँ, इसलिए स्वप्न का दुःख नहीं रहा'' अर्थात `मै कोई गलतफहमी में हूँ, इसलिए स्वप्नों का दुःख नहीं हो रहा' - ऐसा नहीं मानता। जगने पर लगता है कि मैं जानता हूँ, वह तो झूठ था इसलिए दुःख नहीं है। इस प्रकार नींद वाला व्यक्ति जाग्रत जगत के दुःख से तो छूट गया। परन्तु गलतफहमी से नहीं छूटा। नासमझी से, अजानता से उसका छुटकारा नहीं हुआ। जैसे हम स्वप्न से छूट गये, ऐसे ही यदि ज्ञानपूर्वक जाग्रत से भी छूट गए होते तो सुषुप्ति ही समाधि कहलाती।

४.३ सुषुप्ति एवं समाधि में अंतर

पहले पाद (जाग्रत) में स्वप्न के जगत की असत्यता जानी गई। दूसरे पाद में जगत की असत्यता जानी नहीं गई। तीसरे पाद में दोनों नहीं रहते लेकिन उस समय जानने की क्षमता ही नहीं रहती। सुषुप्ति वाला भी जगत झूठा है, "जाग्रत स्वप्न है", "स्वप्न स्वप्न है" - सुषुप्ति वाला कभी ऐसा निर्णय नहीं समझता। सुषुप्ति में इस निर्णय की कमी के कारण ही हम उसको समाधि नहीं कहते। वैसे सुषुप्ति समाधि जैसी ही होती है। परन्तु इन दोनों में थोड़ा सा अंतर है। सुषुप्ति में जगत का थोड़ा भी दुःख नहीं रहता। वहाँ स्वप्नों का दुःख, मेरे-तेरे का दुःख इत्यादि कुछ भी नहीं रहते। परन्तु यह कार्य समझदारीपूर्वक नहीं हुआ। नासमझी में हुआ। इसीलिए कोई भी सुषुप्त पुरुष जगकर भी अपने को मुक्त नहीं समझता। आत्मज्ञ नहीं मानता। ज्ञानी नहीं मानता। पर समाधि वाला व्यक्ति अपने को मुक्त मान लेता है।

४.४ चतुर्थ पाद में प्रविष्टि के लक्षण

कोई भी साधक (व्यक्ति) चतुर्थ पाद (आत्मा) में जाग्रत कहलायेगा यदि समझदारी पूर्वक उसके ख्याल में न नींद हो, न जाग्रत जगत हो और न ही स्वप्न हों अर्थात् जाग्रत जगत भी स्वप्नवत लगने लगे। नींद के दौरान देखे जाने वाला स्वप्न जागने पर स्वप्न लगता है। परन्तु जब जाग्रत भी मुझे स्वप्न लगने लग जाए तब समझना चाहिए कि मैं चौथे में जाग गया। चतुर्थ पाद में जगने की यह सही पहिचान है।

चौथे पाद की प्राप्ति का मतलब है "जाग्रत जगत भी स्वप्न है" यह समझ जाग्रत होना।

४.५ सजग बोधावस्था का नाम वास्तविक समाधि है

जिस सुषुप्ति (समाधि) में जगत को होशपूर्वक झूठा जान लिया जाये (जानकर सुषुप्ति का शब्द बोल रहा हूँ) उसी का नाम समाधि है। समाधि उजेला दिखने का नाम नहीं है। समाधि कुण्डलिनी जगने का नाम नहीं है। समाधि भगवान दिख जाने का नाम नहीं है, समाधि किसी चमत्कार का नाम नहीं है

जिस जाग्रत दशा में जगत भी स्वप्न दिख जाए उस सजग बोधावस्था का नाम समाधि है।

इसीलिए तथाकथित समाधि वाले हमें बचकाने लगते हैं। आँखें बन्द करके ध्यान में प्रकाश दिख गया। आँखें बन्द करके एकाग्र हो गए, गुरुदेव के दर्शन हो गये, ध्यान में भगवान दिख गए, - ये अच्छी स्थितियाँ हैं। मैं इसकी निन्दा नहीं करता। वे साधक बहुत भाग्यशाली हैं जिनको ध्यान में भगवान दिखते हैं, गुरुदर्शन होते हैं, प्रकाश होता है, नाद सुनाई देता है। इसका कोई विरोध नहीं है। परन्तु क्या यह समाधि है? समाधि तो वह स्थिति है जहाँ आत्मा की सत्यता के अतिरिक्त सब कुछ मिथ्या है ऐसा बोधपूर्वक समझ में आये। 'आत्मा के अतिरिक्त अन्य कुछ भी सच्चा नहीं है' यह लगे वही आत्म-बोध है। स्वप्न देखा है - यह मुझे याद है। स्वप्न हुए हैं - ये भी मुझे याद है। परन्तु फिर भी कोई दुःख नहीं, कोई चिन्ता नहीं। आम आदमी द्वारा देखे गये स्वप्न की तरह ज्ञानी भी यही समझता है कि जगत मुझे दिखा था, जगत मुझे दिखता है, जगत मुझे हुआ लगा है और पहले से मैं इसके दुःख और बन्धन देखता रहा हूँ। पर (बोध के बाद) आज मेरे लिए दुःख और बन्धन नहीं है। इसी बोधावस्था का नाम समाधि है, इसी का नाम आत्मबोध है। इसी का नाम तुरीय है। इसी का नाम चौथे पद की प्राप्ति है।

४.६ ज्ञान समाधि

जाग्रत में विश्व की प्राप्ति, स्वप्न में तेजस की प्राप्ति; सुषुप्ति में प्राज्ञ की प्राप्ति इन तीनों का स्वप्नवत अभाव देखना ही ज्ञान समाधि की स्थिति है। स्वप्नवत का अभिप्राय है कि जैसे स्वप्न वास्तविक नहीं है, उसी प्रकार यह सम्पूर्ण सृष्टि माया-मात्र है, गुणात्मक है, मेरे अतिरिक्त कुछ भी वास्तविक नहीं है, जहाँ ऐसा जाना जाता है उसी का नाम ज्ञान-समाधि है।

४.७ जगत की अप्रतीति एवं मोक्ष

नींद में देखे हुए जिन स्वप्नों को हम भूल जाते हैं क्या उन्हीं से छुट्टी मिलती है या याद वालों से भी? याद वालों से भी छुट्टी मिलती है। जगत की स्मृति रहने पर भी यदि

'मेरे अतिरिक्त कुछ नहीं है' ऐसा भी ज्ञान हो जाए तो छुट्टी मिल गई। न दिखना कोई छुट्टी नहीं है। यदि न दिखने से छुट्टी मिली होती तो नींद को मुक्ति क्यों नहीं कहते? यदि न दिखने का नाम मोक्ष होता तो सुषुप्ति भी मुक्ति कहलाती। पर सुषुप्ति को जहाँ जगत का अभाव हो जाता है, हम मुक्तावस्था, ब्रह्म की प्राप्तावस्था, साक्षी की बोधावस्था नहीं कहते।

निष्कर्ष यह है कि जगत की अप्रतीति का नाम मोक्ष नहीं है। आत्मा की सत्यता की अनुभूति का नाम मोक्ष है। अर्थात् जगत में आत्मा की अनुभूति का नाम मोक्ष है।

४.८ भाग्यशाली कौन?

वे लोग भाग्यशाली हैं जो इस आत्मा की सत्यता को स्वीकारने के लिए मेहनत करते हैं। मैं आपके भाग्य की सराहना करता हूँ कि आप लोग घर छोड़कर इस ब्रह्म विद्या को सुनने आये हो। क्या सब आ सकते हैं? क्या यह कथा सुनना सबको अच्छा लगता है? वह जीव कितना भाग्यशाली होगा जिसको परमात्मा ने यह विद्या सुनने का अवसर दिया है। जब इसे ध्यानपूर्वक सुनोगे और समझोगे तो आप स्वयं अपने भाग्य की सराहना करोगे। ग्रंथों में तो नर-तन की बड़ी महिमा गाई है। मनुष्य को बड़ा भाग्यशाली कहा है। परन्तु उपनिषद् में वर्णित ब्रह्म विद्या को समझने वाला व्यक्ति मानव तन की प्राप्ति को, सत्संग की प्राप्ति को, संतदर्शन को, तथा अपने को भाग्यशाली समझेगा। तुम अपने को अभागा समझते हो। पर मैं भाग्यशाली कह रहा हूँ। सन्त तुम्हें बताते हैं कि नर-तन बड़े भाग्य से मिला है। परन्तु फिर भी कई लोग कहते हैं कि, ''न जाने कौन-सा पाप था जो हम लोग मनुष्य बन गए। न जाने किस पाप से जन्म हो गया।'' दुर्भाग्य से मनुष्य तन को पाकर भी अपने को अभागा समझने वालों की संख्या अधिक है। ध्यान रहे कि भाग्यशाली वही है जो अपने भाग्य को समझ सका। अभी भी शायद आपको अपने भाग्यशाली होने का भरोसा न हो रहा हो। इससे ज्यादा दुर्भाग्य क्या होगा कि इतना अच्छा सुनने को मिले, उपनिषद सुनने को मिले, आपको अपनी कथा सुनने को मिले फिर भी हमें अपने भाग्यशाली होने का अहसास न हो। जो यहाँ कथा में नहीं आए या जिन्हें यहाँ आना अच्छा नहीं लगता वे तो अभागे हैं ही, वे भी अभागे ही हैं जिन्हें यहाँ आकर भी यह कथा अच्छी नहीं लगती। यदि समझ में न आये परन्तु सुनना अच्छा लगे तो समझ लो कल्याण होगा। यह बात ठीक इसी

प्रकार है जैसे किसी लड़के का विवाह न होने पर भी उसे युवती की चर्चा चलने पर खुशी होने लगती है।

जिस प्रकार विवाह के बिना चर्चा भी अच्छी लगती है उसी प्रकार बोध न होने पर भी बोध की चर्चा तो अच्छी लगनी ही चाहिए। जिसको बोध की चर्चा अच्छी लगती है उसको बोध होकर ही रहेगा। और मैंने ये देखा है कि जिनकी शादी लोग नहीं करते तो बन्धन तोड़कर प्रेमविवाह (love marriage) करने लगते हैं। वो सब नीति-अनीति को ताक में रख देते हैं। इसीलिए "मैं कितना पढ़ा हूँ, अनपढ़ हूँ, मुझे यह तर्क नहीं आता" ये सब बातें जिज्ञासु साधक के लिये कोई महत्व नहीं रखतीं। मैंने एक कथा सुनी थी कि एक लड़के ने विवाह कर लिया। लोगों ने उससे पूछा, "बारात कब गई थी?" वह कहने लगा, "बारात नहीं आई थी"। फिर पूछा गया, "बाजे कितने के आए?" उसने उत्तर दिया "बाजे भी नहीं आए थे"। इस पर व्यक्ति कहने लगे कि, "हम यह नहीं मानते कि शादी हुई है।" वह बोला, "तुम न मानो। पर हमारी शादी तो हुई है। तुम्हारे मानने से क्या होगा? हमारी शादी हुई है - इसका आनन्द हमें मिल रहा है। हमें बाजे की क्या आवश्यकता? ये तो बेवकूफ लोग बाजे से शादी करते हैं। बारात आती है - इसका शादी से क्या संबंध है?"

उसी प्रकार आप आत्मा हैं, इसके लिए दूसरों से प्रमाण-पत्र की क्या आवश्यकता है? आप इस सबके साक्षी आत्मा हैं। आपके रहते ये जाग्रत, स्वप्न एवं सुषुप्ति में सब झूठे हो गए हैं। फिर भी आप जाग्रत को सत्य मानकर बेवकूफी क्यों करते हो? क्या जाग्रत रोज झूठा नहीं होता रहा है? क्या जाग्रत गैर-हाज़िर नहीं हुआ? क्या स्वप्न गैर-हाज़िर नहीं हुए? जब स्वप्न गैर-हाजिर होने से झूठा स्वीकार हो जाता है तो जाग्रत गैर-हाजिर होने से झूठा क्यों नहीं है? स्वप्न की तरह जाग्रत भी मिथ्या ही है। इस विषय में थोड़ा भी अंतर नहीं है। परन्तु चूँकि प्रारम्भ से ही जाग्रत को सत्य देखते चले आए हो, इसलिए मन जल्दी भरोसा नहीं करता।

> इसलिए आत्मा के अतिरिक्त न जाग्रत सत्य है, न स्वप्न सत्य है, न सुषुप्ति सत्य है। सदा रहने वाला आत्मा अर्थात मैं स्वयं ही सत्य हूँ।

इसलिए सत्य-नारायण कौन है? मैं स्वयं। परन्तु अभी बिना जाने नहीं कहना। जो शिव भक्त हैं वे बाद में (आत्मा के जानने के बाद) कहेंगे "शिवोऽहम"। जो नारायण के भक्त हैं वे अंत में नर से नारायण हो जायेंगे। साधना में आप जिसके भक्त हो आत्मा को

जानने के बाद आप वही हो जाओगे। यदि सत्य-नारायण के भक्त हो तो ब्रह्मज्ञान के बाद क्या हो जाओगे? नारायण। जो शिवभक्त हैं वे शिवोऽहम्। आप जिस भगवान को मानते हो आप वही भगवान हो जाओगे। सोऽहम् मंत्र का यही अर्थ है। इसलिये शिवोऽहम् वाले, सत्यनारायण वाले, राम के भक्त या ब्रह्म के उपासक सभी सोऽहम् कह सकते हैं। क्योंकि सोऽहम् का अर्थ है कि जो वह है वही मैं हूँ। शिव की प्रधानता से शिवोऽहम्, नारायण की प्रमुखता से "नारायणोऽहम्" और ब्रह्म की प्रधानता से "अहम् ब्रह्मास्मि"। तो सोऽहम् क्या है? सोऽहम् कहते हैं कोई वाला हो सोऽहम्।

दुराचार से जिनको उपरामता नहीं हुई, जो अपने कुकृत्यों से उपराम नहीं हैं उनको उपनिषद् ज्ञान की पात्रता नहीं है। उनको यह उपनिषद् विद्या सुनने का कोई अधिकार नहीं है। कई कातिल, हत्यारे सुनने आँएगे तो कहेंगे - सब भगवान की ही कृपा से होता है। हम भी तो भगवान की ही कृपा से इन कर्मों में लगे हैं। ये सुनने के पात्र हैं? ये सुनने के पात्र नहीं हैं, ये तो दण्ड के पात्र हैं। इनका इंतजाम सरकार के पास भी नहीं है। कानून तो कमजोरों के लिए बनाए जाते हैं। ताकतवर तो कानून तोड़ते हैं। जैसे मकड़ी का जाला छोटे कीड़ों को फँसा लेता है परन्तु बड़े लोग तो झाड़कर जाले ही फेंक देते हैं। उसी प्रकार राजनीतिक एवं आर्थिक दृष्टि से शक्तिशाली लोगों से संरक्षण प्राप्त बड़े-बड़े अपराधी लोगों का कानून भी कुछ नहीं बिगाड़ पाता। ऐसे लोग कानून को ताक में रखकर लूट रहे हैं। इनके लिये जेल आदि मात्र दिखावा है।

विभिन्न अपराधों में लिप्त राजनेताओं एवं बड़े अपराधियों को बरी होता देखकर न्यायालय अनयायालय लगते हैं। मैं मानता हूँ कि न्यायालय की अवमानना नहीं करनी चाहिये। परन्तु कई जमीनों के झगड़े एवं आपराधिक मामले ले देकर छोड़ दिये जाते हैं। क्या ऐसे न्यायाधीशों के विरुद्ध गलत निर्णय देने पर उचित कार्यवाही होगी?

यह जगत सत्य है। हम कहेंगे 'यह रहता नहीं। तुम्हारा अनुभव भी यही है। अपने विवेक से भी आप इस अनुभव को कि 'यह रहता नहीं है' स्वीकारते नहीं हो। क्यों? क्योंकि इसके पकड़ने का चस्का आपके मन में लगा है। हम जानते हैं कि चोरी नहीं करनी चाहिए। पर मन नहीं मानता। हम जानते हैं कि पर-स्त्रीगमन पाप है, बलात्कार अच्छा नहीं है। परन्तु फिर भी तीन साल, पाँच साल, छः साल की बच्चियों के साथ बलात्कार के जघन्य अपराध हुए हैं। उनके अंग बिगड़ गए, फट गए। खून निकल आया, मर गई, जीभ निकल आई, नाक से खून निकला। तीन-तीन वर्ष की कन्याओं की रीढ़ टूट गई। क्या ये

किसी आदमी के लक्षण हैं? मुकद्दमे चल रहे हैं। फैसले हो रहे हैं। इसलिए जैसे वहाँ हम सोच नहीं पाते, ऐसे ही हम श्रुति वचन सुनते समय भी सोच नहीं पाते। हमारी कामना, हमारा अज्ञान, हमारी पूर्वधारणा, पूर्व प्रतीति, पूर्व-निश्चय बाधा बनते हैं। आप यह मानते हो कि हम बात ठीक कहते हैं। बलात्कारी, चोर, नेता आदि सभी मानते हैं कि जो वे कर रहे हैं वह ठीक नहीं है। पर अपनी पार्टी के किसी बेईमान को कोई हटाएगा? बल्कि यदि अन्य कोई बेईमानी के मामलों को उठाता है तो पार्टी वाले उसका पक्ष लेते हैं। इसलिए बेईमानी, स्वार्थ, अज्ञानता आदि के कारण कल्याण में बाधा है।

अब आप मंत्र के `नान्तःप्रज्ञम' के भाव को समझने का प्रयास करें। स्वप्नावस्था में आप थे' इसमें दो राय नहीं है। बाकी स्वप्नावस्था का सब कुछ झूठा था। वहाँ का ज्ञान भी, वहाँ के ज्ञेय भी, वहाँ के दृश्य भी, वहाँ का द्रष्टा भी, वहाँ के जीव, घोड़े, गधे, बच्चे, स्त्री, पति, आदि की नाना आत्माएं भी, सब कुछ झूठे थे। ये सब मिलते थे। पर उनमें सत्य कितने निकले? केवल आप। परन्तु स्वप्न वाले वे आप भी नहीं। स्वप्न वाला तो आप भी गया। और उस समय जो था वह अभी भी है। अवश्य कोई एक है। उसकी पहिचान भले ही अभी नहीं हो रही। परन्तु वह है अथवा नहीं? जो स्वप्न में था वह अभी है? वह कैसा है? ऐसा। ऐसा भी नहीं है, वैसा भी नहीं है, लेकिन गड़बड़ क्या है? अब ऐसा लगता है। उस समय आपका आत्मा वैसा लगता था और दुनिया लगती थी। इस समय उसी आत्मा को अब यह ऐसा लगता है और यही लगता है। जब वह चला जाता है क्या तब आत्मा नहीं रहती? वह कैसी रहती है? लम्बी, चौड़ी, पतली, मोटी, दुःखी, सुखी? अहा! वह आत्मा तब भी रहती है। परन्तु आत्मा जैसी जाग्रत में लगती है वैसी नहीं है। जैसी स्वप्न में लगती है, वैसी भी नहीं है। नींद में मै अज्ञानी हो गया था। परन्तु आत्मा वैसी भी नहीं है। फिर भी नींद मे आत्मा अज्ञानी लगती है। उपनिषद कहता है कि सुषुप्ति में (जिसे प्राज्ञ कहते है) ऐसा लगता है कि मुझे ज्ञान नहीं रहता। स्वप्न उसे सत्य लगने लगता है। पर जाग्रत में आने पर उसे स्वप्न झूठा लगने लगता है। हमें यह स्वीकार करने में कोई आपत्ति नही है। हम यह क्यों कहे कि ऐसा नहीं होना है? इसलिए उपनिषद ऐसा कुछ आग्रह नहीं करता कि `सुषुप्ति मे ऐसा नहीं होना चाहिए, स्वप्न सच्चा नहीं लगना चाहिए, जागने पर ही झूठा लगे।' वह कहता है कि `जागने पर झूठा लगता है, स्वप्न स्वप्न मे झूठा नही लगता।' इस प्रकार जो लगता है उपनिषद वही कहता है।

४.९ जाग्रत में ही आत्मा को समझना है

अब आत्मबोध के लिए क्या उपाय करना है? आपने स्वप्न को स्वप्न जाना, परन्तु कब? जाग्रत में। इसी प्रकार सुषुप्ति में जगत का अभाव हुआ - यह ज्ञान कब हुआ? जाग्रत में। स्वप्न अथवा सुषुप्ति वाला यह नहीं कह सकता कि, "अब जगत नहीं है।" बाद में (जगने पर) याद करता है कि नींद में कोई दुःख नहीं था, सुख से सोया था, जगत नहीं दिखता था। सुषुप्ति की प्राज्ञावस्था का विशेष अनुभव, स्वप्न की तैजस अवस्था के अनुभव जाग्रत में ही समझ में आते हैं। इसलिये जाग्रत की वास्तविकता को भी जाग्रत में ही समझना है। अर्थात् आत्मा की वास्तविकता को भी जाग्रत में ही समझना है, समाधि में नहीं समझना। असल में तो समझने को ही समाधि मानना है। इसलिए

> वेदान्त ध्यान समाधि का विरोधी है। वेदान्त किसी चमत्कार को देखकर उसके रस लेने का विरोधी है। वेदान्त तो इस सत्य की समझ को ही समाधि मानता है।

इसलिये मैं प्रायः कहता हूँ कि भगवान कृष्ण ने जो समझ अर्जुन को दी उस समझ की समाधि युद्ध में भी रहेगी, कार्य करते समय भी रहेगी। उनकी समाधि ध्यान वाली समाधि नहीं है। जो लोग ध्यान को समाधि मानते हैं वे शिकायत करते हैं कि वह रहती नहीं। परन्तु जो सत्य के निश्चय को ही समाधि मानते हैं उनका सत्य निश्चय सदा रहता है। उनमें सत्य की निष्ठा सदा रहती है। वे ऐसा कभी नहीं सोचते कि, "मैं बिगड़ गया था।" उसी प्रकार ज्ञानी के ख्याल में कोई बुरी कल्पना आ भी जाये तो कहेगा, "कल्पना थी। असल में कोई गड़बड़ नहीं है।"

> जैसे जागे आदमी से स्वप्न का वर्णन पूछो तो कहेगा, "हाँ, हुआ तो था। पर स्वप्न था।"

इस प्रकार तत्त्ववेत्ता उत्पन्न हुए विकार अथवा उत्पन्न हुई विषम परिस्थिति के विषय में पूछने पर कहेंगे, "हाँ, कल्पना में थोड़ी हुई थी।, पर यह कल्पना ही है। मेरे स्वरूप में ये कुछ भी नहीं है" इसलिए आत्मवेत्ता समाधि अथवा ध्यान के न रहने पर भी दुःख नहीं मानता। "समाधि बनी रहे" - इसकी चिन्ता वह नहीं करता। इसलिए आत्मबोध परम-समाधि है।

आज आत्मबोध पर किसी का ज़ोर नहीं है। आज ध्यान करने वाले अधिकांश लोग आत्मबोध पर ज़ोर नहीं देते, समाधि पर ज़ोर देते हैं। यह उपनिषद समाधि पर ज़ोर नहीं देता, आत्मबोध पर ज़ोर देता है। आत्मबोध व्यक्ति को निश्चित करता है, निर्द्वन्द्व करता है, द्वैत का बोध कराता है। इसलिए इस उपनिषद में `नान्तःप्रज्ञम' द्वारा यह बताया गया है कि यह आत्मा अन्तःप्रज्ञ की तरह नहीं है। क्योंकि वह `स्वप्नावस्था' चली गई। मान लो मिट्टी का गोला बनाया। इस पर हम कहेंगे कि मिट्टी गोल नहीं है क्योंकि गोलाई रहती नहीं, जबकि मिट्टी रहती है। इसी प्रकार मिट्टी की लम्बाई रहती नहीं, जबकि मिट्टी रहती है। फिर हम लम्बाई को मिट्टी क्यों कहें? हम चौकोर को मिट्टी क्यों कहें? छोटी को मिट्टी क्यों कहें? मिट्टी छोटी नहीं होती। कण छोटा है। कण में मिट्टी तो वैसी ही है। पृथ्वी बड़ी है, ढेला छोटा है, कण और छोटा है। फिर कण में कितनी मिट्टी? 50%? नहीं। ढेले में? और पृथ्वी में? सब मिट्टी ही है। इसी प्रकार 50% आत्मा कहीं नहीं होती। होती तो सेंट-परसेंट है। पर अणु लगने के कारण, परमाणु लगने के कारण कहीं छोटी लगती है, कहीं बड़ी लगती है। मिट्टी कहीं छोटी और कहीं बड़ी? वैसे छोटा सोना किस भाव होता है? बड़ा सोना किस भाव होता है? तो मैं भाव की बात कहता हूँ। एक किलो सोना, एक छटाँक सोना, एक कुन्तल सोना किस भाव? एक ही भाव बिका। एक कुन्तल सोने की बिक्री से कीमत बहुत मिलेगी। पर रेट क्या था? सुषुप्ति का जो प्राज्ञ है वैसी आत्मा नहीं है। वहाँ अज्ञानता थी। उसे लगता था कि मुझे ज्ञान नहीं रहा। स्वप्न में स्वप्न सच्चा लगता था। इसलिये चौथा ऐसा भी नहीं है। जाग्रत में यह (स्थूल जगत) सच्चा लगता है, इसका भोक्ता है - आत्मा ऐसी भी नहीं है। थोडा अनुमान लगाएँ।

अब एक-एक अवस्था छोडकर एक-एक का गुण लेते हैं। यदि तुलना करनी हो तो हम कह सकते हैं कि वह आत्मा ऐसी है जैसे स्वप्न से छूटा हुआ जाग्रत। अर्थात जैसे जाग्रत व्यक्ति स्वप्न से छूट जाता है। यहाँ, जाग्रत को पकडने वाला हिस्सा नहीं लेना। जगने वाले के लिए स्वप्न कैसा होता है? कितने प्रतिशत सत्य होता है? स्वप्न की कितनी चीज सच्ची होती है? थोडी भी नहीं। तुम्हारे अतिरिक्त कुछ सच्चा नही है - लगभग आत्मा इसी प्रकार की होती है। इसी प्रकार जाग्रत जैसी भी वह नहीं है क्योंकि वहाँ भी स्वप्न है। फिर आत्मा कैसा होता है? जैसे लगभग प्राज्ञ या सुषुप्ति वाला होता है। पर वहाँ भी थोड़ी कमी है, वहाँ अज्ञानता होती है। इसलिये तीनों अवस्थाओं के कुछ-कुछ गुण लेकर आत्मा को समझा एवं स्पष्ट किया जा सकता है।

अवस्थायें	गुण	दुर्गुण	क्या करना है?
जाग्रत	जागने, स्वप्न एवं नींद तीनों की जानकारी एवं वर्णन इसी अवस्था में किया जा सकता है।	जगत का सत्य लगना	"जगत प्रतीति मात्र है। इसका अस्तित्व नहीं है क्योंकि यह टिकता नहीं है" यह समझने से जाग्रत ही समाधि हो जायेगी।
स्वप्न	जगत की प्रतीति अर्थात् जागने पर स्वप्न का देखा हुआ जगत मिथ्या लगता है	स्वप्न के दौरान स्वप्न में देखा गया जगत सत्य लगता है।	जागने पर जैसे स्वप्न का जगत (दृश्य आदि) मिथ्या लगता है उसी प्रकार आत्म-बोध द्वारा जगत के मिथ्यात्व को स्वीकार करना है।
सुषुप्ति	जगत का अभाव हो जाने से वहाँ कोई कष्ट नहीं रहता। आनन्द का अनुभव करता है।	अज्ञानता अर्थात् बेहोशी वहाँ रहती है और साक्षी (आत्मा) का कोई बोध नहीं होता।	नींद की बेहोशी अर्थात् अचेतावस्था को छोड़ना है और जाग्रत के होशपन से आत्मनिर्णय को स्वीकारना है।

प्रत्येक अवस्था में उसके गुण को बनाये रखना है और दुर्गुण को छोड़कर अन्य अवस्था के गुण को अपनाना है। उदाहरण स्वरूप जाग्रत की अच्छाई यह है कि इसमें होशपन रहता है। यहाँ तक कि नींद एवं सपनों तक के अनुभव भी जगने पर ही बताये जाते हैं। परन्तु इसका दुर्गुण यह है कि जगते ही जगत सत्य लगने लगता है। यहाँ की चिन्तायें, मान-अपमान, राग-द्वेष, आदि विक्षेप पैदा करते रहते हैं। इसलिए जाग्रत में स्वप्न के इस गुण को कि 'जगत प्रतीति मात्र है। यह टिकता नहीं है' को ग्रहण करना है।

स्वप्नावस्था में जो परेशानी, विकार, चिन्तायें थी, जागने पर उनसे राहत मिलती है क्योंकि जगने पर यह ज्ञान होता है कि स्वप्न का यह सब कुछ झूठा था। इस प्रकार जगने पर स्वप्न वाली समस्या का समाधान हो जाता है।

जाग्रत जगत में मनुष्य अनेक प्रकार की चिन्ताओं, ईर्ष्या, राग-द्वेष, भय आदि से ग्रस्त रहता है। परन्तु जाग्रत के इन सब कष्टों का निराकरण नींद में हो जाता है। सुषुप्ति में कोई भी हमसे आशीर्वाद नहीं माँगता। वहाँ भगवान से ख्याल रखने की कोई प्रार्थना नहीं करता। परन्तु वहाँ भी एक कमी है कि सब कष्ट जागने पर ज्यों के त्यों निकल आते हैं। ये मेरा-तेरा, ईर्ष्या, राग-द्वेष, चिन्ता आदि सब ज्यों के त्यों निकल आते हैं। प्राज्ञ में एक अज्ञानता की ही कमी थी अन्यथा आत्मा वहीं मिल जाती।

जैसे स्वप्न से छूटने पर या स्वप्नों के चले जाने पर जाग्रत में स्वप्नों के कष्ट से मुक्ति मिल जाती है, यदि जाग्रत में जाग्रत जगत के कष्ट नहीं लगते होते तो आप जाग्रत में भी मुक्त हो गये होते। परन्तु स्वप्नों के छूट जाने पर जाग्रत का स्यापा शुरु हो जाता है।

इसलिये यदि समाधि न लगे तो एक के दुर्गुण का दूसरे के गुण से समझौता कराओ। जाग्रत में सुषुप्ति का गुण ले लो और जाग्रत का दुर्गुण छोड़ दो। सुषुप्ति का गुण है - जगत का अभाव अर्थात् जगत का न होना। सुषुप्ति का दोष है - बेहोश होना। जाग्रत के गुण 'होश रहना' रख लो और सुषुप्ति का गुण 'जगत कुछ भी नहीं है' रख लो। ऐसा करने से जाग्रत ही समाधि हो जावेगी।

स्वप्न की यह विशेषता है कि जागने पर इसका लेशमात्र भी नहीं बचता। अतः "स्वप्न के झूठेपन का गुण" ले लो। स्वप्न का एक दुर्गुण भी है कि वह दिखते समय सत्य लगता है। परन्तु जागने पर पता चलता है कि 'वह सत्य नहीं था।'

कठिनाई यह है कि व्यक्ति स्वप्न के विषय में तो यह मानने को तैयार है कि "वहाँ जगत प्रतीत होता था, पर वास्तविक नहीं था", परन्तु, कहीं यहाँ भी ऐसा ही न हो - ऐसा नहीं सोचता। उसकी (स्वप्न) वहाँ प्रतीति ही तो थी। सच तो यह है कि इसकी (जाग्रत की भी) यहाँ प्रतीती ही तो हो रही है। वहाँ अनेक जीव थे। यहाँ भी तो ऐसा ही न हो कि केवल आत्मा ही सत्य हो और सब गप्प हो। मरने पर हम लोग यह बोलते है कि "राम नाम सत्य है", सत्य बोलो गत्य है। साथ में इतना और बोलना चाहिए कि "और सब गप्प है।"

४.१० जगत के मिथ्यात्व को समझने में स्वप्न की उपयोगिता

भगवान ने स्वप्न अकारण यूँ ही नहीं बनाए। उस तुरीय में, चौथे में सब (स्वप्न) यूँ ही नहीं खड़ा किया। इसके पीछे भी हेतु है। तत्त्ववेत्ता स्वप्न के बिना सत्य को प्राप्त नहीं हो सकता था। वह यह भरोसा ही न करता कि असत्य भी दिखा करता है। असत्य की भी प्रतीति होती है - ऐसा कोई नहीं मानता। यदि एक बार भी रस्सी में साँप न दिखा होता तो हमें धोखा होने पर भी कोई हमारे धोखे की बात को सच नहीं मानता। सैंकड़ों बार धोखा खाने के कारण हमें धोखे से सावधानी आई है। धोखा भी जरूरी है। इसलिए हम धोखे का एक अर्थ और करते हैं कि जब आदमी बहुत बार "धोखा खा ले" तो फिर आदमी इसको "धो कर खाता है।" एकाध बार गन्दी चीज़ खा ले तो लोग सावधान होकर धोकर खाते हैं। हम दर्पण में धोखा खा जाते हैं - लगता है उधर भी एक कमरा है। इस जीवन में न जाने कितने धोखे खाए और स्वप्न में तो रोज़ खाते हैं। क्या स्वप्न का धोखा खाना बन्द हो गया? नहीं। स्वप्न में बहुत बार धोखा खाया। वहाँ दिखने वाले को सत्य देखा और उस समय दुःख-सुख मानते रहे। अब भी इस स्वप्न से शिक्षा लो कि वहाँ दिखता था, पर था नहीं। पर यह जाग्रत बेईमान वहाँ के (स्वप्न के) विषय में अर्थात् स्वप्न की असत्यता को तो सोचता है, पर यहाँ के (जाग्रत जगत के) विषय में अर्थात् जाग्रत के मिथ्यात्व को नहीं सोचता। यही बेवकूफी है। यह (जाग्रत) दूसरों (स्वप्नों) को तो कहता है कि इसमें त्रुटि है परन्तु अपनी नहीं कहता। दूसरे साधू बदमाश हैं, बेईमान हैं, लफंगे हैं, जबकि वही बेईमानी तू भी कर रहा है। अन्य साधू तो धन्धा कर रहे हैं और तू क्या परोपकार कर रहा है? सारा समाज भ्रष्ट है और मैं? क्या आप हो ईमानदार? नहीं। यही बेईमानी है। ये बहुत चालाकी-पूर्वक बेईमानी है। ये सावधान चतुर बेईमान हैं। सुषुप्ति में न रहना देखा। स्वप्नों को झूठा देखा पर अभी भी यह (जाग्रत वाला) झूठा है - यह मानने को तैयार नहीं है। यह भी नहीं रहता, फिर भी इसे (जाग्रत) सच्चा मानते हो। अब यह कौन समझाएगा? स्वामी परमानन्द। समझने को तैयार होगे तो समझोगे। यदि आप अपनी ही समझ को सही मानते जाओगे तो क्या समझ पाओगे?

एक गाँव में किसी के मकान की छत का पानी दूसरे के आँगन में गिरता था। उन्होंने कई बार अनुरोध किया, "भाई अपने पानी को अपनी तरफ गिराओ, यह हमारे आँगन

में गिरता है।" पंचायत बुलाई गई। पंचों ने भी यही कहा कि, "भाई! ये गलत है। आप अपनी छत के पानी का ढाल अपनी तरफ करो", आँगन में जिसका पानी गिरता था वह ज़ोरदार बहुत था। पंचों की बात पर वह कहता है, "पंच तो बात सही कहते हैं, पर नाला इधर ही गिरेगा।" तो उपनिषद् तो सही कहते हैं, स्वामी परमानन्द तो सही कहते हैं पर जगत सत्य है। तो ज़बरदस्त कौन है? अज्ञानी। वह अन्य किसी की सुनता ही नहीं है। कितना समझाओ, समझ में नहीं आता। क्योंकि वासना समझने नहीं देती। स्वार्थ अंधा कर देता है। इसलिए पंचायत की बात कोई नहीं मानता। स्वार्थ, कामना एवं वासना आदमी को अंधा कर देती है, इसलिए कहा है कि -

"मूरख हृदय न चेत, जो गुरु मिलहिं विरंचि सम॥"

यदि ब्रह्म के समान भी गुरु हों तो भी मूर्ख नहीं समझता। कई बार बेचारी पत्नियाँ अपने पतियों के लिये हमसे कहती हैं, "इन्हें समझाओ।" परन्तु ये लोग घरवाली की तो सुनते ही नहीं, हमारी भी नहीं सुनते। पत्नियाँ कहती हैं, "महाराज, क्या करें? नरक बना है, आप कुछ कर दो" परन्तु वे नहीं समझते। कई शराबें पीते हैं। घर बरबाद हो रहे हैं परन्तु फिर भी नहीं सुनते। अब इस प्रकार की प्रवृत्ति वाले लोग मोक्ष की चर्चा को कैसे सुनेंगे? जब शराब छोड़ना नहीं सुनाई देता, स्वार्थ के कारण राष्ट्र-हित नहीं दिखता, अपने कर्म नहीं दिखते, अपने स्वार्थ में इतने अंधे हैं कि अपनी इज़्ज़त की भी कई बार परवाह नहीं रहती, तो ये ब्रह्म की कथा कैसे सुनेंगे?

'नाविरतो दुश्चरितान नाशान्तो नासमाहितः'

आप समझें कि वह (आत्मा या तुरीय) अन्तःप्रज्ञ नहीं है। "जो अन्तःप्रज्ञ था, जैसा उस समय लगता था", ऐसा आत्मा को नहीं लगेगा अपितु जगकर जैसा स्वप्न लगता था वैसा अनुभव करेगा। परन्तु तब दूसरी समस्या पैदा हो गई कि जगत सत्य लगने लगा था। समाधान तो तब होगा कि जाग्रत जगत भी स्वप्न लगने लगे। सुषुप्ति में जगत का अभाव था अर्थात् वहाँ जगत दिखना बन्द हो गया था। यहाँ (जाग्रत का) जगत दिखना बन्द न हो, पर मन भीतर वैसे ही हो जैसे सोया हुआ होता है। सोए हुए की तरह निश्चिन्तता जिसमें है वही तुरीय है।

तुरीय में प्रवेश कैसे होगा? निषेध के द्वारा। बहिष्प्रज्ञ अन्तःप्रज्ञ एवं प्राज्ञ का निषेध करके। जैसे अन्तःप्रज्ञ का निषेध जाग्रत में हुआ, बहिष्प्रज्ञ का निषेध स्वप्न में हुआ। वहाँ

निषेध किया नहीं अपितु हो गया। अर्थात् विवेक से हमने वहाँ कोई निषेध नहीं किया। प्रकृति के नियम से स्वप्न का निषेध जाग्रत में हो गया और जाग्रत का अभाव स्वप्न में हो गया। इन दोनों (जाग्रत तथा स्वप्न) का अभाव नींद में हो गया। इसमें हमारा कोई पुरुषार्थ नहीं लगा। हमारा पुरुषार्थ तो है कि इन तीनों की इस बात (अभाव) को समझकर चौथा एक निर्णय करें कि ये सब (जाग्रत, स्वप्न एवं सुषुप्ति) स्वप्नवत् ही हैं।

एक भक्त ने एक महात्मा को आमंत्रित किया। सन्त भोजन करने आए। जब भोजन करने बैठे तो भक्त ने एक अन्य साधू की प्रशंसा कर दी। इस पर भोजन करने वाले साधू ने कहा "उस साधू की तुम प्रशंसा करते हो? ये तो ऐसा है, वैसा है ठग है......" आदि कहने लगा। अगले दिन दूसरे वाले को निमंत्रण दिया। पहले वाले साधू चले गये। उनसे उनकी प्रशंसा कर दी। तो वे कहने लगे, "अरे! वो तो ऐसा है, वैसा है उसको तुम अच्छा कहते हो?" एक दिन उस भक्त ने दोनों को एक साथ बुला लिया। पहले वालों ने उन्हें 'बैल' कहा था। और दूसरे वाले ने उन्हें 'गधा' कहा था। तो बैल और गधे को निमंत्रण दिया और घास-भूसा की तैयारी कर ली। जब दोनों बैठ गये तो उनके आगे घास-भूसा डाला। इस पर दोनों क्रोधित हुए और कहने लगे, "आप हमें बैल समझते हैं। हमें आप गधा समझते हैं।" भक्त कहने लगा, "हम तो नहीं समझते। आपने इनको समझा है। इन्होंने आपको समझा है। मुझे तो कोई समझ है ही नहीं। हम तो साधू समझते थे। इन्होंने जो समझाया वही हमारी समझ में आ गया।"

इस प्रकार जाग्रत ने स्वप्न को समझाया। नींद ने स्वप्न तथा जाग्रत को समझाया, और स्वप्न ने जाग्रत को समझाया।, एक-दूसरे की समझ से हमने मान लिया कि सब मिथ्या है। हमने सबको मिथ्या कैसे जाना? इन्हीं के कहने से। ये तीन अवस्थाएँ न होतीं तो हम कभी ज्ञानी न होते? ये निमंत्रण करने वाले भगत तब समझदार हुए जब उन्होंने एक-दूसरे को समझा दिया। एक-दूसरे के द्वारा ही हम आत्मा को समझने में सहयोग प्राप्त करेंगे। इसलिए ये तीनों पाद आत्मा के समझने के लिए बहुत आवश्यक हैं।

५

चतुर्थ पाद को समझने की प्रक्रिया

५.१ उपनिषद् का प्रयोजन

उपनिषद् किसी व्यक्ति की कथा नहीं कहता। उपनिषद् किसी सामान्य परिस्थिति अथवा अवस्था मात्र की चर्चा नहीं करता। उपनिषद् का प्रयोजन उस सत्य की चर्चा करना है जिसे सुनकर व्यक्ति के जीवन की सभी समस्याओं का समाधान हो जाता है। अन्य विषयों की शंकाओं का समाधान एक विषय है और अपने जीवन की समस्याओं का समाधान बिल्कुल अलग विषय है। जीवन में बहुत संशय होते रहते हैं, व्यक्ति उनका भी समाधान करता है। परन्तु अपने जीवन के मूलभूत प्रश्नों जैसे मरने के बाद क्या होता है?, यह जन्म क्यों होता है?, यह जगत क्या होता है?, मैं क्या चीज़ हूँ? इन सभी प्रश्नों का समाधान उपनिषद् करता है।

५.२ चतुर्थ पाद को समझने में तीन पादों की उपयोगिता

आत्मा के तीन पादों का वर्णन किया जा चुका है। चतुर्थ पाद का वर्णन चल रहा है। इस चतुर्थ पाद में तीन पादों का स्मरण रखना जरूरी है। यहाँ पर एक प्रश्न उठ सकता है कि यदि आत्मा अथवा तुरीय को ही बताना था, तो तीन पादों को बताने की क्या आवश्यकता थी? तुरीय तत्त्व में ये शब्द आया है `चतुर्थम् मन्यन्ते सात्मा सविज्ञेयः' अर्थात् तुरीय या आत्मा ही जानने योग्य है। परन्तु उपनिषद् ने विश्व, तैजस और प्राज्ञ से जनाना शुरू किया। जब जानने योग्य एक चतुर्थ आत्मा ही है तो प्रारम्भ से ही उसी की कथा क्यों नहीं शुरू की? मान लो आप किसी से स्वामी परमानन्द का परिचय पूछो और वह देने लग जाए मेरे आश्रम का परिचय, चेलों का परिचय, जमीन-जायदाद का परिचय। क्या यह परिचय

भी मेरे परिचय में कुछ उपयोगी है? यदि है तो देना चाहिए। यदि मेरी फोटो लेनी हो और फोटो खींचना शुरू कर दिया हो पहले मेरे एक चेले का, दूसरे चेले का फिर तीसरे चेले का। साथ ही कहे कि हमें स्वामी परमानन्दजी का फोटो खींचना है। यह उपनिषद् की कथा इसी तरह विचित्र है। जानना है उस विशुद्ध तुरीय आत्मा को और परिचय जाग्रत अवस्था तथा उसके लक्षणों से कराया। तत्पश्चात् स्वप्न के तैजस की पहिचान कराई। फिर सुषुप्ति के प्राज्ञ की पहिचान कराई। परन्तु पहिचान तुरीय की करानी है। ऐसा क्यों किया गया? क्योंकि हम उसका सीधा परिचय नहीं करा सकते। इनका (विश्व, तैजस तथा प्राज्ञ) परिचय कराने के बाद हम कह देंगे कि यह (जाग्रत) आत्मा नहीं है, यह (स्वप्न) आत्मा नहीं है, यह (सुषुप्ति) भी आत्मा नहीं है। इससे आप आत्मा को जान जाएंगे। यदि इन तीनों का परिचय आत्मा के परिचय से संबंध न रखता होता तो भी इन तीनों का परिचय नहीं देते। यदि चौथा तीन से बिल्कुल भिन्न होता तो फिर या तो इसका सीधा परिचय देते या फिर उसका परिचय हो ही नहीं सकता था।

उदाहरण के लिए कोई व्यक्ति मेरी एक छाया की फोटो खींचे। फिर दूसरी छाया की खींचे। फिर तीसरी छाया की खींचे। जैसे शीशे में मेरा फोटो खींचा जाए। तदुपरान्त व्यक्तियों को पहली छाया वाला फोटो दिखाया जाये कि यह स्वामी परमानन्दजी का एक रूप है। फिर दूसरे वाला दिखाया जाये कि यह भी स्वामी परमानन्दजी का दूसरा रूप है। फिर तीसरा फोटो भी दिखाया जाये कि यह भी स्वामी परमानन्दजी का तीसरा रूप है। और स्वामी परमानन्दजी इन तीनों से अलग हैं। यह पूछने पर कि "उनको बताओ कि वे कैसे हैं?" उत्तर दिया गया कि "उनको नहीं बता पाएंगे। उनको नहीं दिखा पायेंगे।"

अब मैं आपसे पूछना चाहूँगा कि क्या हम आपके मुँह को दिखा पायेंगे? यदि आपको अपना मुंह देखना है तो किस वस्तु की आवश्यकता पड़ेगी? दर्पण देखने की। उसमें जो दिखाई पड़ेगा आप वही हैं। अब मैं आपसे पुनः पूछना चाहूँगा कि यदि आप दर्पण में दिखने वाले वही हैं तो तर्क के आधार पर दर्पण के न रहने पर आपका मुख भी नहीं रहना चाहिए। पुनः जब दूसरा मुँह दिखाया तो वह भी आपका ही था, पर वह भी नहीं रहा। इसी प्रकार आपको तीसरा मुँह दिखाया परन्तु वह भी नहीं रहा। अब प्रश्न उठेगा - जब दर्पण में दिखने वाला मुँह सचमुच वाला मुँह है ही नही तो फिर इसे दिखाया ही क्यों? दर्पण में दिखने वाले प्रतिबिम्ब के बिना इसे दिखाओ। "दर्पण के बिना इसे कैसे दिखायें?" कहते हैं, "हम दर्पण में दिखे मुख के प्रतिबिम्ब के बिना बिल्कुल ही नहीं दिखा पायेंगे।" यदि

दिखाएंगे तो ये भी कहेंगे "यह है तो आपका ही मुंह, परन्तु यह आपका मुंह नहीं है" बात को ज़रा तर्क से समझना। आपका ही मुंह है। यदि वह मेरा मुंह होता तो कभी उससे मैं अपने मुंह को पहचानता"? यदि एक भैंस के मुंह के आगे शीशा रख दे तो क्या उसकी छाया से आप अपने मुंह को पहचान लेंगे? नहीं। तो 'दर्पण में दिखने वाला मुख मेरा ही मुख है' यह भी सच है और 'मेरा मुख नहीं है' यह भी सच है क्योंकि यदि वह छाया बिल्कुल मेरे मुख की न हो, तो उससे भी मैं अपने मुंह को पहचान नहीं सकूंगा। यदि आपके कोई तीन फोटो दिखा दे और आपको न दिखाये तो मैं आपको पहचान जाऊंगा। दर्पण में फोटो बन रहे हों और हम शीशे के फोटो खींच लें तो आप अपने को पहचान जाएंगे अथवा नहीं? पहचान जाएंगे और यह भी जान लेंगे कि वे (फोटो वाले) आप नहीं हैं क्योंकि आपका तो हमने फोटो लिया ही नहीं है। हमने तो आपके प्रतिबिम्ब का फोटो लिया है।

५.३ आत्मा को समझने की तार्किक विधि

आत्मा कभी देखी अथवा जानी नहीं जा सकती परन्तु उसका परिचय इन्हीं तीन (जाग्रत, स्वप्न एवं सुषुप्ति) के द्वारा होगा। अन्य कोई उपाय नहीं है। पहले आत्मा का जो जानने में आने वाला हिस्सा है, उसे जनाएंगे और तत्पश्चात इन्हीं को जानकर कहेंगे 'यह आत्मा नहीं है।' है तो यह (जाग्रत) उन्हीं का पर यह (जाग्रत) वह (आत्मा) नहीं है। यह (स्वप्न) भी है तो उन्हीं (आत्मा का) का फोटो पर यह वो नहीं है। और यह (सुषुप्ति) भी है उन्हीं (आत्मा का) का फोटो पर यह प्राज्ञ भी वह (आत्मा) नहीं है। अब समझ लो कि वह कौन है? तरीका देखो। जाग्रत में जगत का ज्ञान उन्हीं को होता है, उन्हीं के द्वारा होता है पर जगत का ज्ञान-मात्र वह नहीं है क्योंकि ज्ञान नहीं रहता जबकि आत्मा रहती है। स्वप्न का ज्ञान भी उन्हीं आत्मा को होता है पर यह होने वाला ज्ञान भी वह नहीं है। सुषुप्ति का अज्ञान भी उन्हीं को होता है पर वह अज्ञान भी वह नहीं है। जिन लोगों को प्रकाश और प्रकाश में वस्तुएं दिखती हैं, उन्हीं लोगों को अन्धेरा दिखता है और अन्धेरे में कुछ नहीं दिखता। उजेला और उजेले में चीज़ें, और अन्धेरा और अन्धेरे में चीज़ों का न दिखना कौन देखेगा? वही और उन्हीं आँखों से। तो वही आत्मा अपने प्रकाश में जगत देखता है। वही आत्मा अपने एक चित्तवृत्ति के प्रकाश से, प्रतिबिम्ब (Reflexion) से स्वप्न देखता है और वही आत्मा इन दोनों प्रकाशों के न रहने पर अन्धकार अर्थात सुषुप्ति को भी जानता है।

आत्मा ज्ञानस्वरूप है, आत्मा तो अज्ञान का ज्ञानी है। जो आँखें रोशनी को और रोशनी में पदार्थ को भी देखती हैं वे ही आँखें अन्धेरे को और अन्धेरे में पदार्थ के न दिखने को भी देखती हैं।

क्या अन्धेरे में आँखें अन्धी हैं? नहीं। आँखें कभी अन्धी नहीं हैं। इसीलिए उपनिषद् में एक स्थान पर कहा गया है: "न हि दृष्टुः दृष्टेः विपर्यलोपो विद्यते अविनाशित्वात्।" द्रष्टा की दृष्टि का लोप नहीं होता क्योंकि द्रष्टा की दृष्टि अविनाशी है। द्रष्टा की दृष्टि का लोप एक सैकेण्ड भी नहीं होता। आत्मा जड़ एक सैकेण्ड भी नहीं होती। फिर भी अज्ञानी होती दिखती है। जैसे अन्धेरे में लोगों को आँखें अन्धी लगती हैं। वास्तविकता तो यह है कि अन्धेरे में भी आँखों को अन्धकार नज़र आता है पर वस्तुयें नहीं दिखतीं। इसलिए हम कहते हैं कि नहीं दिखता। इसी प्रकार सुषुप्ति में भी प्राज्ञ आत्मा को जगत नहीं दिखता। दूसरे शब्दों में कह सकते हैं कि उसी आत्मा की जब प्राज्ञावस्था होती है तो उसे जगत तथा स्वप्न दोनों ही नहीं दिखते। इसी आधार पर कहते हैं कि आत्मा उस समय अज्ञानी होती है। परन्तु एक तुरीय अवस्था होगी जब वही आत्मा जानेगा कि "मैं कभी भी अज्ञानी होता ही नहीं हूं।" यहाँ उस अवस्था को समझने के बाद अज्ञान हटाने का कोई प्रयत्न नहीं करना।

अज्ञानी आत्मा नहीं होती क्योंकि वह अज्ञान की ज्ञानी होती है। आत्मा के ज्ञान का नाश होता ही नहीं। इस प्रकार जब ज्ञान का नाश ही नहीं होता तो ज्ञान को अविनाशी रखने की कोशिश क्यों है? यह बात जिस दिन जान जाओगे उस दिन सारे भ्रम मिट जाएंगे।

नान्तःप्रज्ञं न बहिष्प्रज्ञं नोभयतः प्रज्ञं न प्रज्ञानघनं न प्रज्ञं नाप्रज्ञम्

इसीलिए सातवाँ मंत्र यह बताने के लिये है कि यह 'आत्मा नान्तःप्रज्ञं' है अर्थात् जो भीतर-भीतर ज्ञान है वह आत्मा नहीं है। आत्मा तो है, पर जो भीतर-भीतर ज्ञान है वह आत्मा नहीं है क्योंकि यदि इसको ही आत्मा मान लिया जाये तो इसका तो अभाव हो गया। जाग्रत में जो ज्ञान हो रहा है, वह आत्मा के ही रहते हो रहा है। परन्तु यह ज्ञान भी आत्मा नहीं है। सुषुप्ति में जो अज्ञान हो जाता है वह अज्ञान भी आत्मा नहीं है। इससे यह सिद्ध होता है कि अज्ञानी होना और ज्ञानी होना दोनों ही झूठ हैं। यदि आत्मा जाग्रत जैसी ज्ञानी

होती तो फिर जगत के न रहने पर देखती कि जगत नहीं है। यदि जाग्रत अवस्था का ज्ञान ज्यों का त्यों बना रहता तो जगत का अभाव देखते कि अपना न रहना देखते? यदि आभास ऐसा ही बना रहे और देह न रहे तो हम देह का न रहना देखेंगे। तो नींद में बुद्ध ऐसा मानता है कि मेरा ज्ञान नहीं रहता। सचमुच यदि ध्यान करना है तो प्रयत्नपूर्वक यही ध्यान करना है कि क्या नहीं रहता? जैसे सूर्य का Reflexion बने और तुम दिखने लगो। यदि आप पर मैं उधर दर्पण लगाकर आपकी आँखों की तरफ कर दूं तो सूर्य का प्रकाश आपमें आयेगा या नहीं? आयेगा। तो सूर्य को आप दिखने लगे। सूर्य को आप नजर आने लगे और दर्पण को जरा टेढ़ा कर दिया तो आप नजर आने बन्द हो गये। क्यों? क्या सूर्य चला गया? नहीं, सूर्य नहीं गया। शीशा या प्रतिबिम्ब (Reflexion) मुड़ गया। तो जो और कुछ दिखने लगा, उसे स्वप्न कह दो। जब आप नजर आ रहे थे तो जाग्रत। जब आप नज़र न आने लगे, कुछ और दिखाई देने लगा तो स्वप्न। और जब शीशे को उलट दिया तब कुछ न नज़र आने लगा। ये कुछ नजर न आने का काम किसको हुआ? सूर्य को। कुछ नज़र आने का काम किसके रहते हुआ? सूर्य के रहते। सूर्य के रहते ही आप नज़र आने लगे और सूर्य के रहते ही आपके बजाय कुछ और नजर आने लगा और सूर्य के रहते ही कुछ और नजर नहीं आने लगा। अब हमने सूर्य से कहा, "जो नज़र आने लगा वह तुम नहीं हो। जिसके होने से नजर आने लगे वह तुम नहीं हो क्योंकि वह नहीं रहा। जो दूसरे नज़र आने लगे वह भी तुम नहीं हो। जब कुछ नजर नहीं आने लगा वह भी तुम नहीं हो। तुम तीनों समय में थे और एक जैसे थे। तुम्हारे बिना तीनों हालतें नहीं, लेकिन तुम इन तीन से विलक्षण कोई चौथे हो और चौथे का ही नाम सूर्य है।" फिर ध्यान दें, सूर्य पहले का नाम है? नहीं। क्या पहले समय सूर्य नहीं था? था। पर पहले का नाम (जाग्रत) सूर्य (आत्मा), दूसरी हालत (स्वप्न) का नाम सूर्य (आत्मा) और तीसरी हालत (सुषुप्ति) का नाम भी सूर्य (आत्मा) नहीं है। जिसमें सदा एक जैसी हालत रहती है उसका नाम सूर्य है। तो क्या आप आत्मा ठीक करेंगे? नहीं। अब आप बतायें कि आत्मा ठीक नहीं है या आत्मा का ठीक पता नहीं है? आत्मा का ठीक पता नहीं है। जो लोग आत्मा को ठीक करने का उपाय बता रहे हैं वे चाहे गुरु हों, ग्रन्थ हों, संत हों, वे मूर्ख हैं अथवा समझदार? और जो लोग उनके यहाँ भर्ती होकर ठीक करवाने गए हैं वे? वे भी मूर्ख ही हैं।

आप इसलिए अच्छे हो कि ठीक करवाने नहीं आए और ठीक जगह इसलिए आ गए हो क्योंकि आपको हमने ठीक करने को बुलाया नहीं है। हमने तुम्हें ठीक समझाने को

बुलाया है। उपनिषद् आपको ठीक समझाना चाहता है। कुछ करने की बात उपनिषद् नहीं करता। और यदि आप कुछ करने आए हो तो तुम अस्पताल तो सही आए हो पर बीमार गलत हो। यदि डाक्टर अच्छा हो पर रोगी किसी अन्य प्रयोजन से आया हो तो क्या उसका उपचार ठीक होगा? प्रश्न यह है कि आने वाला रोगी (साधक) क्या समझकर आया है? कुछ करने या समझने? इसलिए 'नास्त्यकृतः कृतेन' (करने से अकृत की प्राप्ति नहीं होती।)

जो नित्य है, ठीक है क्या वह करने से ठीक होता है? नहीं। इसलिए "ज्ञानादेवतु कैवल्यम्" ज्ञान से ही कैवल्य (मोक्ष) की प्राप्ति होती है।

ज्ञान प्राप्त की ही प्राप्ति कराता है। अप्राप्त की प्राप्ति ज्ञान नहीं करा सकता। अप्राप्त की प्राप्ति के लिए ज्ञान के साथ कर्म आवश्यक है। और प्राप्त की प्राप्ति के लिए केवल पता चलना आवश्यक है।

यदि आपके रुपये आपके ही पास हों और आप भूल जायें तो उन्हें पाना नहीं है। मात्र पता चलने से मिल जायेंगे। परन्तु यदि रुपये बाहर से कमा कर लाने हों तो केवल ज्ञान से नहीं मिलेंगे। उनके लिये परिश्रम करना पड़ेगा।

यह उपनिषद् "नान्तःप्रज्ञं न बहिष्प्रज्ञं" के द्वारा आपको कहता है कि आप बहिष्प्रज्ञ नहीं हो क्योंकि बहिष्प्रज्ञता आपमें सदा नहीं रहती। आप अन्तःप्रज्ञ भी नहीं हो क्योंकि अन्तःप्रज्ञता भी आप में सदा नहीं रहती। घनप्रज्ञता भी तुम नहीं हो क्योंकि अज्ञता भी तुममें सदा नहीं रहती। अब ठीक से विचारना है कि क्या अज्ञता, अन्तःप्रज्ञता तथा बहिष्प्रज्ञता तीनों तुम्हारे बिना रहती हैं? नहीं रहतीं। और तुम इनको एक एक करके बारी-बारी से छोड़ चुके हो।

पार्वती (जाग्रत, स्वप्न एवं सुषुप्ति) बहुत जन्म ले चुकी हैं। शंकर बाबा (साक्षी या आत्मा) एक बार भी नहीं जन्मे। पार्वती कई बार मरीं तभी तो जन्मीं। वे कई जन्म लेकर मर चुकी हैं। भोले बाबा मरे ही नहीं। ये बड़ी बेईमानी है (व्यंग्य में)। समाजवादी, साम्यवादी, समतावादी कहेंगे कि ये तो बेईमानी की बात है। पार्वती मरती हैं, शंकर बाबा क्यों नहीं मरते? कल लोग कहेंगे, "अवस्थाएँ मरती हैं। ये साक्षी क्यों नहीं मरता?" हम कहेंगे, "यदि तुम्हें अच्छा नहीं लगता तो मार डालो। सब मरते हैं तो आत्मा को भी मार दो। क्योंकि यह तो आत्मा की बेईमानी हुई कि वह नहीं मरती और सब मरते हैं (व्यंग्य में)।"

समाजवादियों, साम्यवादियों तथा समतावादियों को आत्मा की अमरता पसन्द नहीं है (व्यंग्य में)। उनकी सोच के अनुसार या तो किसी की भी मृत्यु न हो या फिर आत्मा भी मरे। दोनों काम सम्भव नहीं हैं। सब न मरें ऐसा भी नहीं हो सकता और आत्मा मर जाए ये भी नहीं हो सकता। इसलिए इस प्रकार की सोच वाले नेता मूर्ख हैं क्योंकि वे असम्भव काम में लगे पड़े हैं। हमने पहले ही स्वीकार कर लिया कि भाई इनको बचाया नहीं जा सकता और आत्मा को मारा नहीं जा सकता।

५.४ उपनिषदों में प्रयुक्त नींद एवं स्वप्न का अर्थ

> अन्यथा-ग्रहण को स्वप्न कहते हैं और तत्त्व के अग्रहण को निद्रा कहते हैं। तत्त्व के अज्ञान का नाम निद्रा और तत्त्व के अज्ञान से कुछ का कुछ विपरीत दिखने का नाम स्वप्न है।

आम जनता के लिए यह जगत ही सत्य है। इसलिए इस सत्य जगत के न दिखने का नाम निद्रा है। चूँकि इन स्थूल नेत्रों से दिखने वाला जगत आम जनता के लिये सत्य है, इसलिए इस सत्य के अग्रहण का नाम निद्रा कहलाती है। सत्य की ही तरह स्वप्न है जिसे सत्याभास कह सकते हैं। स्वप्न में जाग्रत जगत की तरह वैसा ही अर्थात् झूठ सत्य होकर दिखने लगता है। स्वप्न में मैं (स्थूल शरीर) का ही भान नहीं है और मैं (ख्यालात के मैं) का ही भान है। जब स्थूल देह का ही भान अर्थात् अहसास न हो तो उसका नाम नींद है। और यदि जगत (ख्याल या कल्पना के) ही दिखें, तो इसे स्वप्न कहते हैं। परन्तु यदि स्वप्न न दिखे, जगत दिखने लग जाये तो उसे जाग्रत कहेंगे क्योंकि इन दो जगत (जाग्रत एवं स्वप्न) में एक सत्य है और एक असत्य। जब आत्मा सत्य न लगे तो यही सबका या अपना विस्मरण कहलाता है। इसीलिए कह दिया कि:

अपन को आपन ही विसर्यो, जैसे श्वान काँच मन्दिर में भ्रमवश भूख मरयौ।

हम जगत के भूलने को नींद नहीं कहते। जब ऋषि उपनिषद् कहता है तो जगत के न दिखने को नींद नहीं कहता क्योंकि जगत के न दिखने को नींद तो इस देश का क्या विदेश का मूर्ख भी कहता है। इसको नींद कहने की ऋषि को क्या आवश्यकता पड़ी थी? इसके लिए उपनिषद लिखने की क्या आवश्यकता थी? "हम सो गये थे।" ऐसा तो वह स्वयं ही मानता है। स्वप्न बताना भी ऋषि का प्रयोजन नहीं था क्योंकि ऐसा कौन मूर्ख है

जो जगकर स्वप्नों को स्वप्न नहीं जानता। हम यह स्पष्ट करना चाहते हैं आम जनता जिसे सोना कहती है उसे ऋषि सोना नहीं कहते।

> आत्मा के न जानने का ही नाम निद्रा है। जिसको तुम स्वप्न कहते हो, उसको स्वप्न कहना ऋषि का प्रयोजन नहीं, क्योंकि वह तो तुम जानते ही हो। जिसको तुम सत्य कहते हो उसको स्वप्न बताना उपनिषद् का प्रयोजन है।

जिसे आप जानते ही हो उसे बताने में ऋषियों को इतना समय बरबाद करने की आवश्यकता नहीं थी। जो जाग्रत जगत तुमको आज सच्चा लगता है, ऋषि की दृष्टि में वह स्वप्न है। आत्मा अविनाशी है यह जो तुम्हें गप्प लगता है, उपनिषद् उसी के विषय में चर्चा करता है।

अनादि काल से यह जीव सोया है। हमें जो नींद आती है वह अनादि नहीं है। प्रवाह से तो है। आज रात भी जब सोए थे तो जगत को भूले थे अथवा नहीं? और उससे पहले? भूले थे। इसलिए यह नींद प्रवाह से अनादि है। इसके बोध के बाद आप सोते हो। जगत का बोध भी होता है फिर सोते हो। परन्तु आत्मा का तुमको पहले बोध था, बीच में भूल गये हो - ऐसा उपनिषद नहीं कहता। 'भूल गए' उसको कहते हैं जिसका पहले पता था और बाद में भूल गए। नींद के दौरान आप सोया जान लेते हो क्योंकि पहले आपको जगत दिखता था, बीच में भूल गए। यदि आप आत्मा को पहले जानते होते, आत्मा को जानते हुए सोए होते, तो नींद खुलने पर जगत की तरह आत्मा को भी आप अपने आप जान जाते। इसलिए आप आत्मा से कभी भी परिचित नहीं रहे। आत्मा को आप कभी भी नहीं पहचानते रहे। इसलिए इस सोच को कि "हम आत्मा को पहले जानते थे अब भूल गए हैं" - छोड़ दो। यदि यह मान भी लिया जाय कि "पहले पता था बीच में भूल गए हैं" तो बीच में फिर भूलोगे।

उपनिषद् की व्याख्या करते हुए कारिकाकार श्री गौड़पादाचार्यजी लिखते हैं:

अनादिमायया सुप्तो यदा जीवः प्रबुध्यते।
अजमनिद्रमस्वप्नमद्वैतं बुध्यते तदा।

अनादि मायया' अर्थात् बीच में आई माया से नहीं, बीच में आई नींद से नहीं, अपितु अनादि काल से ही माया में सोया हुआ यह जीव (यदा जीवः प्रबुध्यते) जब जागता है। कैसे

जागता है? क्या अपने-आप? नहीं क्योंकि अनादि काल से सोया रहा। यदि बीच में सोया होता तो बीच में अपने-आप ही उठ जाता। आप अपने-आप रोज सोते हो, तो क्या जगाने से ही जगते हो? स्वयं जग जाते हैं। अपने-आप स्वप्न आता है, अपने-आप चला जाता है। तुमने बीच में स्वप्न खड़ा नहीं किया और न बीच में सोए। यह जीव अनादि काल से सोया हुआ एवं अनादि काल से ही स्वप्न देखता हुआ चला आ रहा है। पर यह जब एक बार जग जाता है (यदा जीवः प्रबुध्यते) तो पाता है कि मैं जन्मा नहीं हूँ, नींद भी मेरे में नहीं है। अब देखो। सोया है तो अनादि काल से परन्तु जग कर पाता है कि 'मेरे को कभी नींद हुई ही नहीं।'

अज्ञान, निद्रा सब कल्पित हैं। चेतन तो कभी सोच सकता ही नहीं। जब जीव अपने चैतन्य-स्वरूप को पहचानता है तो यह अनुभव करता है कि, 'मैं अज हूँ, अनिद्र हूँ, अनित्य और अस्वप्न हूँ। मुझमें स्वप्न नहीं हैं, मुझमें नींद नहीं है, मेरा जन्म नहीं है।' यह स्थिति ठीक इस प्रकार है कि जैसे रस्सी के बोध के बाद व्यक्ति कहने लगे कि सर्प था ही नहीं। रस्सी के ज्ञान के बाद क्या यह भी कहोगे कि साँप चला गया? मैं पूछता हूँ कि साँप दिखता था अथवा सचमुच में था? आपको रस्सी में साँप दिखता था और सच्चा भी लगता था। परन्तु ज्ञान होने पर सर्प में सच्चापन निवृत्त हो गया या साँप चला गया? हमें जानने के बाद यह पता चला कि वह साँप था ही नहीं। 'साँप चला गया' यह कहना ठीक नहीं। इसलिये तत्त्व को जान लेने के बाद जगत् चला गया, मुक्त हो गया, 'जगत निवृत्त हो गया' यह भाषा ठीक नहीं लगती। इसलिए तत्त्ववेत्ता देखता है कि यह जगत तो वास्तविक था ही नहीं, माया-मात्र लगता था।

प्रपंचो यदि विद्येत निवर्तेत न संशयः।
मायामात्रमिदं द्वैतमद्वैतं परमार्थतः॥

(प्रपंच यदि होता तो निवृत्त हो जाता इसमें संदेह नहीं। किन्तु वास्तव में यह द्वैत तो माया-मात्र है, परमार्थतः तो अद्वैत ही है।)

यहाँ पर परमार्थ शब्द बहुत जरूरी है। परमार्थतः अद्वैत है और द्वैत माया है। 'मायामात्रम् इदं द्वैतं' को हम यह भी कह सकते हैं कि 'प्रतीति मात्रम् इदम् द्वैतम्, स्वप्नवत् इदम द्वैतम्।'

'माया मात्रम् इदम द्वैतम' स्वप्न के समान ये द्वैत है। स्वप्न को जब तक नहीं

जाना, तब तक वह सत्य लगता था। जगने पर जैसे स्वप्न को स्वप्न जाना जाता है उसी प्रकार अभी तक जो जगत सत्य लगता रहा है और अभी भी सत्य लग रहा है जागे पुरुष को यह स्वप्न लगता है। स्वप्न का स्वप्न लगना ही निवृत्त होना है। जब स्वप्न अपने आप को स्वप्न लग जाता है तभी यह अनुभव करता है कि स्वप्न निवृत्त हो गया। दूसरे शब्दों में हम कह सकते हैं कि जब सत्य आपको सत्य लग जाता है तब स्वप्न आपको मिथ्या लगने लगता है। परमार्थतः आत्मा जब सत्य लगती है तो प्रातिभासिक आत्मा, व्यवहारिक आत्मा, माया की आत्मा, मायामात्र "मैं" सब स्वप्न लगता है। स्वप्न लगने पर भी अस्वप्न कहा जाता है। अस्वप्न आप कब कहते हो? जब स्वप्न को स्वप्न कहते हो। तब आप अपने को जागा कहते हैं।

> जब जाग्रत में जगत स्वप्न लगने लगे तब हमें समझना चाहिये कि अब हम अस्वप्न हैं, स्वप्न रहित हैं अर्थात् स्वप्न से मुक्त हैं।

स्वप्न लगना ही स्वप्न का न होना है। स्वप्न का समाप्त होना अस्वप्न नहीं है। सर्प का समाप्त होना नहीं है। चूँकि पहले आपको सर्प सत्य लगता था इसलिए अब 'सर्प चला गया, निवृत्त हो गया' यह भाषा आपको आती है। पर बहुत सच्ची भाषा तो यह है कि सर्प था ही नहीं। क्या जानने वाला बाद में कहेगा कि साँप था और चला गया? नहीं। बस जगत स्वप्न था, स्वप्न ही है। जगत जाग्रत में क्या है? स्वप्न ही है। यदि जाग्रत का लड़का चला जाये तो क्या आप स्वप्न कहोगे? नहीं। जाग्रत के बुढ़ापे को, जवानी जाने को स्वप्न चला गया कहते हो? नहीं। इसलिए चले जाने के कारण कोई स्वप्न नहीं होता। मिथ्या होने के कारण स्वप्न होता है। जो मिथ्या न हो, वह स्वप्न नहीं है।

स्वप्न के विषय में पुनः स्पष्ट कर दूं। जो जागे व्यक्ति को 'यह वास्तविक नहीं है' - ऐसा लगे, उसी का नाम स्वप्न है। न रहने से स्वप्न नहीं कहना। अन्यथा इस आधार पर कि 'जगत अभी दिखता है' आप कहोगे कि जगत स्वप्न नहीं है। जगत दिखता रहेगा, व्यवहार होता रहेगा। चलो हम तो कलयुग के लोग हैं, तुम अभी ज्ञानी नहीं हो, इसलिये जगत दिखता है, व्यवहारिक क्रियाएँ करते हो। परन्तु मैं पूछना चाहूँगा कि पहले जो ज्ञानी थे वे भाषण देते थे या नहीं? शंकराचार्य ने समाज में प्रचार किया अथवा नहीं? ऋषियों ने ज्ञान के बाद ग्रन्थ लिखे या जब अज्ञानी थे, तब लिखे? तो ज्ञान के बाद भी कागज था, लिखना था, शब्द थे। किसी के प्रति करुणा थी। यदि न दिखने लगता,

न अपने हाथ नज़र आते, न कागज़ नज़र आता, न ज़ुबान होती और न स्याही कलम होती, तो क्या वे लिख पाते? नहीं। इसलिए,

> स्वप्न न दिखने का नाम जगना नहीं है, 'स्वप्न स्वप्न है' इस समझ का नाम ही जगना है।

५.५ समाधि एवं जगत का मिथ्यात्व

यह जगत आत्मा में मात्र प्रतीति है, मुझ आत्मा के सिवा अन्य कोई वस्तु नहीं है। मयाअतिरिक्तं यद् यद् वा तत् तत् मिथ्येति निश्चिनु।

तुझे यदि आत्मा के अलावा "कुछ है" ऐसा लगता है तो उसे तू मिथ्या निश्चय कर ले। चिद् तत्त्व के अतिरिक्त तुझे यदि कुछ भी लगता है तो "वह मिथ्या है" यही वार-वार सोच और "मैं अकेला ही सत्य हूँ" यह सोच, यह समझ ही जगना है। समाधि जगना नहीं। समाधि में तो लोग कहते हैं कि हम जगत से अन्दर चले गए। इस प्रकार तो नींद वाला भी यह मानता है कि "मुझे दिखा नहीं, सो गया था।" समाधि वाला कहता है कि "मैंने चित्त का निरोध किया था इसलिए जगत समाधि में नज़र नहीं आया।" मैं यदि पीछे नज़र कर लूं तो सभा नज़र नहीं आयेगी। तो मुझे लगेगा कि सभा नहीं है। परन्तु क्या सचमुच में सभा नहीं है? नज़र फेरने पर सभा नहीं दिखती। नींद में लगता है कि मुझे नींद आई इसलिए जगत मुझे नज़र नहीं आया। पर यहाँ (सभा में) तो मेरी नज़र भी है परन्तु सभा नज़र इसीलिए नहीं आयी क्योंकि नज़र मेरी दूसरी तरफ है। इसी प्रकार जगत है। इसलिए समाधि से जगत का मिथ्यात्व निश्चय नहीं होता।

> वेदान्त कहता है जगत का मिथ्यात्व निश्चय और आत्मा की सत्यता (परमार्थता का बोध) का बोध ही जागना है, समाधि जागना नहीं है।

मैं जानकर ऐसे बिन्दुओं पर प्रकाश डालता हूँ जिन्हें यदि न बताया जाय तो भ्रम दूर नहीं होता। लोग उलझे हुए हैं। उनको साधन में वार-वार यह रुचि है कि जगत न दिखे। वेदान्त का वार-वार कहना कि द्वैतपन की सत्यता निवृत्त होनी चाहिए। जगत दिखता रहे, कोई बाधा नहीं है।

इसीलिए वेदान्त का जिसे सच्चा बोध हो वह जगत-विरोधी नहीं हो सकता। वेदान्त कार्य-विरोधी नहीं है, संसार-विरोधी नहीं है। समाधि को लोग पलायनवाद कहते हैं।

समाधि में जगत छोड़ना होता है। जगत की प्रतीति से हटना होता है और जगत-प्रतीति से हटने वाला व्यक्ति कार्य नहीं कर सकता। पर ब्रह्मनिष्ठ पुरुष काम करते हुए जागा होता है। भगवान शंकराचार्य जैसा काम कौन करेगा? चार मठों की स्थापना, चार शंकराचार्यों की नियुक्ति, अनेक ग्रन्थों का लिखना, कितने भाष्य लिखना, कितना प्रचार करना और जो इसके विरुद्ध थे उनसे शास्त्रार्थ करना, लड़ना और निपटना। इतनी तैयारी करने वाला महापुरुष (शंकराचार्य) जगत को कहता है "नहीं है"। इसीलिए

वेदान्त को समझने के लिए बहुत सूक्ष्म समझ चाहिए। और जगत न दिखने के लिए समाधि चाहिये। वहाँ समझ की कोई आवश्यकता नहीं।

जब ध्यान वाले साधक समाधि में जाते हैं तो आम लोगों को लगता है बहुत ऊँची स्थिति प्राप्त कर ली है। ऐसे लोग अपनी ध्यान साधना का बड़ा ढोल पीटते हैं। जगत को देखकर जो लोग डरते हैं वे जगत को हौवा समझकर ही तो डरते होंगे। जो जगत को हौवा ही नही समझता, उसे आँखें बन्द करने की क्या जरूरत है? आँखें बन्द करके समाधि लगाना बचकाना खेल लगता है। जिस प्रकार बच्चों को डराने से वे आँखें मींच लेते हैं, उसी प्रकार समाधि वाले भी जगत से डर के आँखें मींचते हैं अर्थात् आँखें बन्द करके ध्यान समाधि लगाते हैं।

ब्रह्मज्ञानी जगत को अपना-आपा देखता है और 'कुछ है नहीं' यह देखता है। परन्तु यह देखना आसान नहीं है। इसके देखने के लिए बहुत साधन, बहुत सूझबूझ, बहुत समझ, बहुत श्रद्धा चाहिए।

इसलिए ही गौडपादाचार्यजी कहते हैं कि "अजम् अनिद्रम्, अस्वप्नम् अद्वैतम् बुध्यते तदा।" अद्वैतम् अर्थात् आत्म-तत्त्व में द्वैत नहीं है। वहाँ और कुछ नहीं है। अपना-आप अकेला है। जैसे स्वप्न में वह खुद अकेला ही था। स्वप्न देखकर, जागकर फिर ख्याल करें कि स्वप्न में कितने थे? स्वप्न का ख्याल करने पर पता चला कि वहाँ तू था और बाकी सब स्वप्न था। स्वप्न में हाथ-पैर वाले के पास दूसरे हाथ-पैर वाले भी थे - बेटा-बेटी, पति-पत्नी, पेड़, जमीन, सड़कें आदि सब थे। वहाँ पर अनेक जीव थे। बकरी, भैंस आदि

सभी जीवित थे। पर बताओ कि जगने पर कितने थे? कोई नहीं था। क्या तुम भी नहीं बचे? वह आप ही थे जो बच गए। उस बच हुए का विचार नहीं किया। तुरन्त इसको (शरीर को) अपना बनाकर बैठ गए। स्वप्न की तरह जाग्रत में भी फिर हाथ-पैर वाले वैसे ही सब मिल गये। अन्तर इतना है कि उसकी उठाई को जान पाए हो जबकि इसकी उठाई को अभी तक नहीं जान पाए। इसलिए उपनिषद का ऋषि अभी भी आपको सोया ही कहता है। पर आपको जगाना चाहता है। किस स्वप्न से? जो अभी (जाग्रत) आपके लिए सत्य है, अर्थात जन्म सत्य है, मृत्यु सत्य है, मेरे सत्य हैं, तेरे सत्य हैं यहाँ (जाग्रत में) तो ये सब सत्य हैं, परन्तु उपनिषद बताना चाहता है यह भी तुम्हारा स्वप्न है और इसको स्वप्न जानना ही जग जाना है। आत्मा को नहीं जानना। आत्मा दिखती भी नहीं। बस "यह दिखने वाला जाग्रत जगत स्वप्न है" यदि यह समझ में आ जाये तो सत्य क्या है? - यह आप ही पता चल जाएगा। यह दिखने वाला जगत स्वप्न है। "जो दीसे सो सकल विनासी" जो जानने में आता है, वह सब स्वप्न है। फिर सत्य कैसा है? जो जानता है और जिस सत्य के रहते यह सब दिखता है - वह सत्य कहाँ रहता है? वह जाग्रत में भी रहता है, स्वप्न में भी रहता है और नींद में भी रहता है। स्वप्न नहीं रहता, जाग्रत नहीं रहता, नींद नहीं रहती फिर आप कैसे हो? कहते हैं कि हम नहीं बता सकते कि हम कैसे हैं? इतना हम जानते है, "ये स्वप्न है और हम सत्य है"। "यह (जाग्रत) स्वप्न है", "यह (स्वप्न) भी स्वप्न है"। जिस "मैं" को ये (जाग्रत एवं स्वप्न) मालूम पड़ते हैं वह (साक्षी) "मै" सत्य है। जिसको यह इतना मालूम पड गया है कि "मैं अकेला ही सत्य हूँ" वही अद्वैत है। तब फिर सत्य कितने? अकेला मैं स्वयं। तब फिर न हटाने की जरूरत, न रखने की जरूरत। मै अकेला ही सत्य हूँ। "आत्मैव इदं सर्वम" यह सब केवल आत्मा ही है। यदि यह सब सत्य लगता भी है तो सबमें सत्यता केवल मेरी है। जैसे सब गहनों में सोने की सत्यता है उसी प्रकार सब अवस्थाओं में मेरी सत्यता है। सब सत्य नहीं अपितु सबमें मैं अकेला सत्य हूँ। सब सत्य लगते हैं पर जिसने एक ही सत्य देखा है उसके लिए सब क्या है? एक सत्य। इसलिए "अद्वैतम बुध्यते तदा।" तब वह जानता है कि एक ही सत्य है। अद्वैत है, द्वैत तो यहाँ है ही नहीं, और तो यहाँ है ही नहीं। यह उपनिषद का वचन है।

फिर कहते हैं

प्रपंचो यदि विद्येत निवर्तेत न संशयः।
मायामात्रमिदं द्वैतमद्वैतं परमार्थतः॥१७॥

(प्रपंच यदि होता तो निवृत हो जाता इसमें संदेह नहीं। परन्तु वास्तव में यह द्वैत तो माया-मात्र है परमार्थतः तो अद्वैत ही है)

द्वैत माया-मात्र है, सचमुच तो एक सत्य है। जैसे बहुत ईंटें बनाईं, बहुत मकान हैं। `मकान हैं' - यह हम भी कहेंगे। पर सचमुच सत्य कितने हैं? एक मिट्टी। "यथा एकेन मृतपिण्डेन" जैसे एक मृत मिट्टी के पिण्ड थे। और वे सब कुम्हार ने बनाए, तो क्या सब सत्य? नहीं। क्या व्यवहार में उनके नाम अलग-अलग नहीं रखते? अलग-अलग रखते हैं खरीदते हैं, उनसे अलग-अलग काम भी लेते हैं। आप लोग जब घर में मेहमान आएँ तो घड़े में पानी भरके रखते हो। उन सबके अलग-अलग नाम, अलग-अलग रूप, अलग-अलग गुण होते हैं। "यथा एकेन मृतपिण्डेन सर्वम् मृण्मयम्" परन्तु सब तात्त्विक दृष्टि से क्या हैं? मिट्टी। फिर कहते हैं कि जुबान से कहने के लिए इन बर्तनों को घड़ा, सुराही, प्याला, आदि-आदि नाम देते हैं। जुबान से कहने के लिए ये सब हैं और व्यवहार के उपयोग में आते हैं। परन्तु हैं सब मिट्टी। इसी प्रकार "माया मात्रम इदम द्वैतम्" माया ने ये सब द्वैत खड़ा किया है। परमार्थतः अद्वैत है और इसी का नाम परमार्थ है।

बहुत से लोग दान देने के नाम से परमार्थ में लगे हैं। कई गंगा नहाने के नाम से परमार्थ में लगे हैं। अन्य कुछ कीर्तन करने के नाम से परमार्थ में लगे हैं। परन्तु परमार्थ एक ही है। परमार्थतः एक सत्य है। इस एक सत्य में जो लगा है वही परमार्थ में लगा है। बाकी सब तो व्यवहार ही में लगे हैं। हाँ व्यवहार अच्छा है, परन्तु वह परमार्थ नहीं है। परमार्थ तो है एक अद्वितीय ब्रह्म। उसकी कथा ही परमार्थ की कथा है। बाकी तो सब व्यवहार की कथा है। `राम ने क्या किया, लक्ष्मण ने क्या किया, सीता ने क्या किया, उन्होंने ऐसा किया, उन्होंने वैसा किया' - ये सब व्यवहार की कथा है। `व्यवहार की कथा न सुनो' - यह हम नहीं कहते। व्यवहार आप न करें - ऐसा हम नहीं कहते। परन्तु यदि परमार्थ से आप वंचित रह जायें तो यह बड़े दुर्भाग्य की बात है। बिना परमार्थ के परमार्थ सुधरता नहीं है।

परमार्थ का एक अर्थ होता है `परम अर्थ'। कई लोग कह देते हैं कि `उन्होंने तो अपना परमार्थ बिगाड़ लिया है' वैसे इस प्रकार बोलने वाले लोगों का स्वयं का परमार्थ भी बिगड़ा ही है। क्योंकि वे परमार्थ का अर्थ ठीक नहीं समझते। उनकी सोच में `चूंकि मैं बीड़ी नहीं पीता, सिगरेट नहीं पीता, शराब नहीं पीता' इसलिए शराब पीने वाले ने अपना परमार्थ बिगाड़ लिया। क्या न पीने वाले का परमार्थ सुधर गया है?' जो मन्दिर नहीं आते क्या वे परमार्थ-

विरोधी हैं? क्या मन्दिर जाने वालों ने परमार्थ की प्राप्ति कर ली है? जिन्हें परम अर्थ का पता ही नहीं है क्या वे सब परमार्थ से वंचित नहीं हैं? है। इसलिए उपनिषद परमार्थ की कथा है। रामायण परमार्थ और व्यवहार दोनों की कथा है। आप अन्यथा न लें। रामायण परमार्थ की भी कथा है और 'राम दशरथ पुत्र हैं, राम फलां के पति है, राम राजा हैं, राम उठते है, राम प्रणाम करते हैं, राम जगते हैं, राम सोते हैं, राम सन्ध्या करते हैं, व्यवहार भी करते है।'- ये सब व्यवहार की कथा है।

राम परमार्थतः ब्रह्म हैं और व्यवहार भी करते हैं। आप सिर्फ व्यवहार ही व्यवहार कर रहे हैं। आप भी व्यवहारिक "मैं" देह वाले है। राम भी देह वाले हैं। राम जगते हैं, तुम भी जगते हो। राम सोते हैं, आप भी सोते हो। राम भी व्यवहार करते हैं, तुम भी करते हो। पर राम को अपने परमार्थ का कि "मैं ब्रह्म हूँ" पता है। राम ब्रह्म कैसे हैं? परमार्थ रूप में। राम का पुत्र होना व्यावहारिक रूप, पति व्यावहारिक रूप, राजा व्यवहारिक रूप, उनका सोना व्यवहारिक रूप, जगना व्यवहारिक रूप, प्रकृति रूप, पर परमार्थ रूप में राम ब्रह्म हैं। क्या आप परमार्थतः ब्रह्म नहीं हो? है। तो फिर तुममें और राम में क्या अन्तर है? राम का अकल्याण होने की सम्भावना? नहीं है।

> जिसका कल्याण अब होना बाकी नहीं है और व्यवहार वैसा ही करता है जैसे सब करते हैं वही साक्षात राम है।

इसलिए रामायण में राम के सभी रूपों की कथा है। व्यवहारिक रूप की भी और प्रातिभासिक रूप की भी, कारण रूप से भी और परब्रह्म रूप से भी।

पर उपनिषद व्यवहार की कथा नहीं करता। उपनिषद केवल परमार्थ की कथा है। यही उपनिषद एवं रामायण मे अन्तर है। रामायण परमार्थ की कथा नहीं करती - ऐसा नहीं है। परन्तु रामायण की कथा कहने वाले रामायणी अधिकतर व्यवहार की कथा करते हैं, परमार्थ उन्हें खुद नहीं आता। रामायण में परमार्थ भी है। भागवत में परमार्थ भी है। पर भागवत कहने वाले कई कथावाचक जनता को रिझाने के लिए गा-बजाकर समय व्यतीत करते हैं। परमार्थ का तो उन्हें पता ही नहीं होता। परमार्थ की वहाँ शुरुआत भी नहीं होती। यदि किसी ने भागवत सुनाने वाले कथावाचक से यह परमार्थ की कथा सुनी हो तो बतायें। क्या किसी रामायणी से भी राम का यह स्वरूप जो परमतत्त्व है सुना है? शब्द तो "परमतत्त्व" आया होगा। पर राम का स्वरुप स्पष्ट करने वाले रामायणी लोगों को गा-बजाकर

जनता के रिझाने और पैसा लूटने से फुरसत नहीं है। ऐसी स्थिति को देखकर ही शायद तुलसीदासजी को लिखना पड़ा होगा :

हरहि शिष्य धन शोक न हरही,
सो गुरु घोर नरक महिं परही।

जब नेता नरक से नहीं डरते, तमाम दुनिया नरक से नहीं डरती तो उपदेश करने वाले गुरु भी कहते हैं, "कमाओ, नरक अरक फिर देखेंगे।" तो साधू भी मजबूत हैं, नरक के लिए पूरे तैयार हैं। चाहे नरक चले जायें परन्तु कमाने में नहीं चूकेंगे। क्या आप लोग भी कमाते समय नरक आदि की चिन्ता करते हो? नहीं करते। तो फिर वे ही क्यों चूकें? (व्यंग्य में) वे कोई अलग से थोड़े ही आये हैं। तुम्हारे से निकलकर तो बाबा बने हैं, कथक्कड़ बने हैं। काम धन्धे वाली दुकान से कथा वाली दुकान अच्छी लगती है क्योंकि इसमें मान भी मिलता है और पैसा भी। लेकिन ऐसे लोग परमार्थ की कथा नहीं कह सकते। इसलिए धन्य हैं वे लोग जो उपनिषद् सुनते हैं। उपनिषद् का अर्थ भी यही है कि जो समीप से सुनाए, जो परमात्मा के बिल्कुल समीप ले जाय अर्थात सीधा वहीं। मैंने प्रारम्भ में इस उपनिषद् का नाम 'मान्डूक्य' बताया था। 'मान्डूक्य' शब्द 'मण्डूक' से बना है। मण्डूक माने 'कूप-मण्डूक' अर्थात् कूएँ का मेंढक। 'मण्डूक' से ही आदि वृद्धि होकर माण्डूक्य बना है। यह 'मेंढक उपनिषद्' है - ऐसा समझो। जैसे जमीन वाला मेंढक कोई खतरा दिखने पर छलाँग लगाकर पानी में कूद जाता है, ऐसे ही यह जीव जब संसार को देखता है तो ब्रह्म में, परमार्थ में कूद जाता है। इस प्रकार परमार्थ में छलाँग लगाने का नाम ही यह उपनिषद् है।

फिर कहते हैं:

विकल्पो विनिवर्तेत कल्पितो यदि केनचित्।
उपदेशादयं वादो ज्ञाते द्वैतं न विद्यते ॥

(इस विकल्प की यदि किसी ने कल्पना की होती तो यह निवृत्त भी हो जाता। यह (गुरु शिष्यादि) वाद तो उपदेश के ही लिये है। आत्मज्ञान हो जाने पर द्वैत नहीं रहता।)

यह द्वैत अज्ञान काल में सच्चा था। तभी इसे गुरु एवं शास्त्र की जरूरत थी। उस स्थिति में (अर्थात् साधना काल में) उपनिषद् सत्य है, गुरु सत्य है, मोक्ष सत्य है। जब तक बन्धन लगता था तब तक मोक्ष सच्चा था। बन्धन सच्चा तो फिर मोक्ष पाना ही पड़ेगा। तब फिर गुरु एवं उपनिषद् भी सच्चा। फिर प्रश्न उठेगा कि क्या ये सच्चे हैं? कहते हैं ये

सत्य तभी तक है जब तक तेरा अज्ञान और बन्धन सच्चा है। जहाँ तू जागा तो न वहाँ उपनिषद सत्य, न गुरु सत्य, न सृष्टि सत्य। तब फिर

एकमेवद्वितीयम ब्रह्मः।

५.६ आत्मा अदृष्ट, अव्यवहार्य एवं अग्राह्य है

नान्तःप्रज्ञं न बहिष्प्रज्ञं नोभयतः प्रज्ञं न प्रज्ञानघनं न प्रज्ञं नाप्रज्ञम। अदृष्टमव्यवहार्यमग्राह्यमलक्षणमचिन्त्यमव्यपदेश्यमेकात्मप्रत्ययसारं प्रपंचोपशमंशान्तं शिवमद्वैतं चतुर्थं मन्यन्ते स आत्मा स विज्ञेयः।

आत्मा अदृष्ट है। इसका अभिप्राय कि वह (आत्मा) दृष्ट नहीं है। वह कैसी है? यह नहीं बताया। इस सन्दर्भ में अदृष्ट से यह अर्थ नहीं निकालना कि 'वह ऐसी है, तथा ऐसी नहीं है।' सामान्य लोग 'आत्मा अदृष्ट है' का अर्थ निकालते है कि वहाँ ज्ञान नहीं है। जबकि अदृष्ट का अर्थ केवल इतना है कि 'आत्मा दृष्ट नहीं है।' अब पुनः प्रश्न उठेगा कि फिर वह क्या है? 'अव्यवहार्य' अर्थात वहाँ कोई व्यवहार नहीं है। जो वस्तु किसी काम मे आये वह व्यवहार्य कहलाती है। जैसे घड़ा एवं सुई व्यवहार्य हैं। इसी प्रकार आँखे व्यवहार्य है। शरीर व्यवहार्य है। मन व्यवहार्य है। बुद्धि व्यवहार्य है। परन्तु आत्मा व्यवहार्य नहीं है। चूँकि वह किसी काम या उपयोग में नहीं आती, इसलिये अव्यवहार्य है। इसीलिए एक जगह कहते है - "वाचा रमणं विकारो लोभ इत्येव सत्यम...." विभिन्न औज़ार जैसे चाकू, कैंची, सुई, छड़ें व्यवहार में काम आते हैं। क्या सिर्फ लोहा भी आपके काम आता है? नहीं। यदि लोहे बिना चाकू, सुई, सरिया, आदि बनें और फिर काम आये तब हम जानें।

सन्यास के प्रारम्भिक दिनों में मैंने एक लेख लिखा जिसका शीर्षक था 'सोचो कौन नालायक लायक नहीं है' लिखने से पहले इस विषय पर बहुत चिन्तन किया था। गाँव में प्रवचन के दौरान कह दिया कि "ब्रह्म नालायक है" इस प्रवचन को सुनकर किसी श्रोता ने अपने गाँव में कह दिया कि "एक महात्मा ब्रह्म को नालायक कहते हैं।" यह सुनकर आठ-दस लोग लाठी लेकर मुझसे मिलने आ गए और पूछा कि ब्रह्म को नालायक कहते हो!? मैंने कहा, "जो काम आता है उसको लायक कहते हैं और जो काम नहीं आए उसको नालायक।" इसी आधार पर मैंने कहा कि "ब्रह्म बिल्कुल नालायक है"। जब यह

बात उनकी समझ में आ गई तो कहने लगे, "आपने तो कोई बुरी बात नहीं कही।" हमने कहा, "समझने वाले को क्या कहें वह भी नालायक है"; जब यह बात उनकी समझ में आ गई तो पैर छुए और चले गए।

तदुपरान्त जब इन लोगों ने पहले वाले को बताया कि स्वामीजी ने तुम्हें भी "नालायक" कहा है तो फिर वह भी लड़ने के लिए चला आया। उसको भी यह समझाया गया कि, "नालायक ब्रह्म होता है। तुम्हें तो मैंने ब्रह्म कहा है। तुम क्यों चिढ़ रहे हो?" वह खुश हो गया।

मैंने `बोधसार' नामक एक पुस्तक पढ़ी थी। उसमें 100 श्लोक थे। एक प्रकरण का नाम था "उन्मत्त प्रलाप शतकं"। इसका शाब्दिक अर्थ है उन्मादी की 100 बातें। उनमें से एक बताता हूँ। तुम कहते हो कि "व्यभिचारी का मोक्ष नहीं होता" और उसने (लिखने वाले) ने कहा, "केवल व्यभिचारी ही मुक्त होता है।" व्यभिचारी कौन होता है? जो कई स्त्रियों से संबंध रखता हो उसी का नाम व्यभिचारी है। तो, जाग्रत एक औरत, स्वप्न एक औरत, सुषुप्ति एक औरत और यह (आत्मा या साक्षी) सबसे (जाग्रत, स्वप्न एवं सुषुप्ति) जुड़ता है और सबको धोखे में रखता है, और स्वयं किसी से कोई मतलब नहीं रखता। इसलिए आत्मा व्यभिचारी है यहाँ अवस्थाओं का व्यभिचार है। इसलिए व्यभिचारी मुक्त हो जाता है। ऐसी बहुत सी बातें "उन्मत्त प्रलाप शतकं" में बतायी गयी हैं।

आम भाषा में कृतघ्नी एक गाली है। जो किसी के किए हुए उपकार को नहीं मानता, उसे कृतघ्न माना जाता है। हम आत्मा को नहीं जानते थे तो गुरुदेव अनेक उपायों द्वारा जनाते गए। परन्तु जब पूरा ज्ञान हो गया तो हम कहने लगते हैं कि आत्मा तो अज्ञानी है ही नहीं। गुरु के किए गए उपकार को भी नकार दिया। इसका अर्थ यह निकलता है कि जो गुरु को भी नकार दे वही पक्का चेला है। कृतघ्नी से बड़ा कोई चेला नहीं हो सकता। पहले मुक्ति को ही नहीं समझता था। गुरु ने समझाया, मुक्त किया और समझने के बाद कहता है कि "मैं तो पहले से ही सदा मुक्त हूँ।" इसी प्रकार के ज्ञानी के सौ प्रलाप बोधसार में हैं।

इसी पुस्तक (बोध सागर) में ब्रह्मज्ञानी को गौ-हत्यारा कहा गया है। वैसे धार्मिक ग्रन्थों में बताया गया है कि गौ-हत्या करने वाले का मोक्ष-कल्याण नहीं होता। परन्तु "उन्मत्त प्रलाप" में कहा गया है कि जो गौ-कशी करता है वही मुक्त होता है। "गौ-कशी" माने इन्द्रियाँ। गौ इन्द्रियाँ हैं। इनकी जो कशी अर्थात हत्या करके जो आत्मा को प्राप्त करता है,

वही मुक्त होता है। कहीं सुनकर गौ-हत्या न कर लेना। इसलिए ज्ञानी की बातें उन्माद अर्थात उन्मत्तता की होती हैं। उस समय में भी कुछ इसी प्रकार बोलता था। अब तो सध गया हूँ। पहले मैं बोलता था, "ब्रह्म नालायक है, लोग चिढ़ जाते थे।" उपनिषद् भी कहता है "आत्मा अदृष्ट है, आत्मा अव्यवहार्य है, आत्मा अग्राह्य है।" जाग्रत का ग्रहण हो गया। स्वप्न का? सुषुप्ति का? ग्रहण हुआ परन्तु आत्मा का ग्रहण आज तक नहीं हुआ। आत्मा को कोई ग्रहण नहीं कर सकता। जाग्रत अवस्था प्राप्त हुई, स्वप्न प्राप्त हुए, सुषुप्ति प्राप्त हुई। आपको आत्मा कब प्राप्त हुई? नहीं हुई। इसलिये आत्मा ही प्राप्त करनी है। क्योंकि आप आत्मा ही प्राप्त करने आये हो। परन्तु साथ में हम यह भी कहते हैं कि आत्मा तो प्राप्त नहीं होती। इस सन्दर्भ में हम इतना ही बताना चाहेंगे कि

> आत्मा को ही सब प्राप्त होता है। आत्मा को प्राप्त करने की जरूरत नहीं है। आत्मा को मूर्ख ही प्राप्त करते हैं। ज्ञानी तो आत्मा ही हैं।

"ज्ञानी तु आत्मैव मे मतम"

ज्ञानी तो आत्मा ही है। उन्हें प्राप्त क्या करना? क्या आत्मा दो हैं? क्या एक आत्मा दूसरी आत्मा को प्राप्त करेगी? क्या आत्मा कोई घरवाली है जो पति प्राप्त करे? या वह कोई घरवाला है जो प्राप्त करे? क्या वहां आत्मा 10-15 हैं जो प्राप्त करें? इसलिए आत्मा ग्राह्य नहीं है। आत्मा का कोई लक्षण नहीं है। जाग्रत के लक्षण बता दिये कि वह स्थूल है। स्वप्न के लक्षण बता दिये कि वह सूक्ष्म है और सूक्ष्म ही उसके भोग हैं। सुषुप्ति के लक्षण बताये कि वहां अज्ञानता है और उसमें कोई इच्छा, कामना, भय, आदि नहीं रहते। आत्मा अलक्षण है। अचिन्त्य है। इसलिए आत्मा का चिन्तन नहीं करना। चिन्तन छोड़ना है। आत्मा अचिन्त्य है। आत्मा अव्यपदेश्य है। आत्मा एकात्मप्रत्यय-सार है। एकात्मप्रत्यय अर्थात एक के ही सब प्रत्यय हैं। सम्पूर्ण प्रतीतियां एक से ही हैं। इसीलिए आत्मा सब प्रतीतियों का एकात्मप्रत्यय अर्थात सब प्रत्ययों का एकमात्र सार है। "प्रपंचोपशमम्" आत्मा प्रपंच का उपशम है। जहां सब प्रपंच शान्त होते हैं या जहाँ पर सब स्वप्न की तरह प्रपंच हैं - यह जान लिया जाता है वह आत्मा है। अभी तक आपकी समझ में केवल एक स्वप्न ही प्रपंच है। पर सब प्रपंच प्रतीति मात्र हैं, माया मात्र हैं, आत्मा के अतिरिक्त अन्य कोई वास्तविकता नहीं है - यह जान लिया जाता है वही प्रपंचोपशम है।

वही है शान्त। वही है शिव। वही है अद्वैत। वहाँ द्वैत सत्य नहीं है। द्वैत केवल मालूम पड़ता है, है अद्वैत। केवल आत्मा है। जैसे स्वप्न में बहुत मालूम पड़ते हैं, जाग्रत में भी बहुत मालूम पड़ते हैं, परन्तु तीनों अवस्थाओं में एक आत्मा ही है। उसी प्रकार पूरे ब्रह्माण्ड में केवल बहुत मालूम पड़ते हैं परन्तु है एक ही। वही अद्वैत है, शिव है, चौथा है। "चतुर्थम् मन्यन्ते" असल में चौथा माना है, है नहीं। ऐसा क्यों? क्योंकि आत्मा के तीन पाद गिना चुके हैं इसलिए चौथा है। तीन केवल माया मात्र हैं। प्रतीति हैं। असल में तो जाग्रत में, स्वप्न में सुषुप्ति में और बोध में भी केवल एक आत्मा ही है। आत्मा पहले ज्यादा थीं और अब एक रह गई हो - ऐसा नहीं है। ये तो सिर्फ अवस्थाएँ थीं, जिनके कारण ऐसा लगता है कि तुम हो, वो है, हम हैं। तुम, हम और वे मात्र, विश्व, तैजस, प्राज्ञ ही हैं। इसलिए जहाँ विश्व, तैजस प्राज्ञ माया मात्र हुए तहाँ आत्मा सर्वत्र एक ही है।

पुनः उदाहरण द्वारा विषय को स्पष्ट करना चाहूँगा साफी एक अस्तित्व है। इसमें तीन गाँठें हैं। एक हटेगी, तदुपरान्त दूसरी हटेगी और फिर तीसरी। और यहाँ (जाग्रत, स्वप्न एवं सुषुप्ति) में भी एक है। किस साफी में? इसी साफी (आत्मा या साक्षी) में। इसी साफी (आत्मा) में एक (जाग्रत) हुई, फिर दो (स्वप्न हुए), फिर तीन (सुषुप्ति) हुई। इस प्रकार उसी साफी (आत्मा) में एक, दो, तीन होती रहती हैं। जो सुनने वाले है - ये सब एक (जाग्रत) दो (स्वप्न) तीन (सुषुप्ति) वाले ही हैं। सुनाने वाले भी एक, दो, तीन वाले ही हैं। और ये (जाग्रत, स्वप्न एवं सुषुप्ति) चले गए तो फिर कितने हैं? एक। तो सत्य कितने? एक। अब ये कथा सुनने और सुनाने वाले कितने? न सुनने वाला, न सुनाने वाला। अब कई लोग शंका करेंगे कि आखिर गुरु तो सच हैं जिन्होंने समझाया। इस विषय में उपनिषद् बताता है कि

> बताने के लिए गुरु के रूप में जो जाग्रत है, साधक के रूप में जो सुनने के लिए जाग्रत है, उन सबमें आत्मा एक ही है।

अब प्रश्न उठेगा कि फिर गुरु सुनाता कैसे है? जैसे स्वप्न वाला। पत्नी से मिल ले, बेटा खिला ले और जगने पर कहे कि "बेटे ने बहुत सेवा की, पत्नी ने हमें बड़ा प्यार दिया।" तुम्हारे स्वप्न में ही तुम्हारा गुरु है। जब तुम जागोगे (आत्मबोध को प्राप्त होगे) तो यह

अनुभव करोगे कि "गुरु नैव शिष्यः चिदानन्द रूप शिवोऽहम शिवोऽहम।" परन्तु जब तक नहीं जगो, तब तक घरवाली, घरवाले, लड़का, बच्चा सब सच हैं। जब नींद खुलेगी (स्व का बोध होगा।) तो अनुभव करोगे कि "एकमेवा द्वितीयम ब्रह्म।" एक अद्वितीय ब्रह्म है और कोई नहीं है। मन्त्र में "चतुर्थम मन्यन्ते" द्वारा आत्मा को चौथा कहा क्योंकि अभी तीन लगते हैं। जब तीन झूठे या माया मात्र लगने लगें तो एक ही सत्य बचा। उसे ही चौथा माना है। अभी तक कहते थे "ये आत्मा", अब कहते हैं "सात्मा"। असल में वही है आत्मा। और यही (सात्मा सविज्ञेय) जानना था। इसी को जानने आये थे। यही है जानने योग्य। जनाना तीन से शुरु किया। परन्तु यदि ये तीन न होते, न जनाते, तो यह चौथा समझ में ही नहीं आता।

६

तुरीय की महिमा

गत अध्यायों में ओंकार की तीन मात्राएँ और 'सब ॐ ही है' मन्त्र द्वारा अमात्र की विस्तार से व्याख्या की गई। तदुपरान्त आत्मा के चार पाद और "सब आत्मा ही है" व्यक्त करने वाले दो मन्त्र सुने। तत्पश्चात् स्थूल, सूक्ष्म तथा कारण शरीर के अभिमानी विश्व, तैजस तथा प्राज्ञ तथा इनकी अभिव्यक्ति की अवस्थायें - जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति को बताया गया। इसके बाद इन अवस्थाओं में रहने वाले आत्मा तथा इन तीनों से विलक्षण (अन्तःप्रज्ञ, बहिष्प्रज्ञ आदि का निषेध करके जिसका बोध होता है) शुद्ध शिव आत्मा तुरीय का वर्णन किया गया। यह स्पष्ट किया गया कि आत्मा के बिना जाने जिसमें बाहर का ग्रहण होता है, आत्मा की अज्ञानता से आत्मा के रहते हुए हम अहम् रूप से या इदम् रूप से देखते हैं वह आत्मा में कल्पित है। आत्मा को समझने की प्रक्रिया विस्तार से बतायी। यहाँ पर हम आत्मबोध प्राप्त व्यक्ति की स्थिति के विषय में चर्चा करेंगे।

६.१ आत्मबोध के बाद व्यक्ति कल्याण विषयक सम्पूर्ण चिन्ताओं से मुक्त हो जाता है

तुरीय (आत्मा) एवं इसके जानने की महिमा को समझाने के लिए श्री गौडपादाचार्यजी ने श्लोक लिखे हैं जिनको कारिकाएँ कहा जाता है। इन्हीं श्लोकों में यह स्पष्ट किया गया है कि तीनों (जाग्रत, स्वप्न एवं सुषुप्ति) वास्तविक नहीं हैं, एक ही वास्तविक है - जब यह समझ लिया जाता है तब तीनों ही स्वप्न लगने हैं। तब इनका होना, न होना समान लगता है। ऐसे बोध की अवस्था को कहा है

निवृत्ते सर्वदुःखानामीशानः प्रभुरव्ययः।
अद्वैतः सर्वभावानां देवस्तुर्यो विभुः स्मृतः॥

(तुरीय आत्मा सब प्रकार के दुःखों की निवृत्ति में ईशान प्रभु (समर्थ) है। वह अविकारी सब पदार्थों का अद्वैतरूप देव तुरीय और व्यापक माना गया है।)

यह बोधावस्था सब दुःखों से निवृत्ति में ईशान है, समर्थ है। इस चौथी अर्थात् आत्मा का बोध सब चिन्ताओं से मुक्त करने में समर्थ है। और "सर्वभावानाम् अद्वैतः" यह सभी भावों में अद्वैत है। "देवः तुरीय" यह चतुर्थ देव है। "विभुः" अर्थात् व्यापक है। यह सीमित नहीं है। यह जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति में ही नहीं अपितु सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में व्यापक है। विश्व में जहाँ जड़ता है, पशुता है, मनुष्यता है, अन्तःकरण है, पृथ्वी है, पहाड़ है, वहाँ सब जगह कहीं प्राज्ञ के रूप में, कहीं तैजस के रूप में, कहीं विश्व-अर्थात बहिष्प्रज्ञ के रूप में प्रतीत होता है परन्तु सबमें सत्य तो साक्षी ब्रह्म ही है। इसलिए ब्रह्म की व्यापकता का बोध होने पर यह आत्मा सीमित और नाना नहीं लगती। अपरिच्छिन्न ब्रह्म एक आत्मा ही है। 'कार्य कारण बद्धौ तौ' कार्य कारण से दोनों बद्ध हैं। कौन से दोनों? जाग्रत और स्वप्न। कार्य भी है और कारण भी है। स्वरूप का, तत्त्व का, सत्य का अज्ञान और सृष्टि का ज्ञान। कुछ देखते भी हैं और अज्ञान भी है। इसलिए कार्य, कारण ये दो से बंधे हुए हैं।

जाग्रत और स्वप्न के विश्व और तैजस दो से बँधे हैं - अज्ञानता (आत्मा का अज्ञान) से भी और सृष्टि ज्ञान से भी। "प्राज्ञः कारण बद्धस्तु" - प्राज्ञ कारण मात्र अर्थात् केवल अज्ञान से बँधा है। सुषुप्ति में प्राज्ञ यह नहीं सोचता कि सृष्टि नहीं है। वह सोचता है कि वहाँ सृष्टि का अज्ञान है। यह नहीं सोचता कि सिर्फ ये दिखता ही था, केवल मैं ही सत्य हूँ। इसलिए प्राज्ञ कारण से बँधा है और तुरीय में ये तीनों नहीं रहते। उसमें न कारण रहता है, न कार्य रहता है। साक्षी न कार्य से बँधा है और न अज्ञान से। जब वह यह जान लेता है कि "अज्ञान भी कल्पित है और ज्ञान भी कल्पित है, शुद्ध तत्त्व तुरीय ही सत्य है" तब वह किसी से बँधा नहीं रहता। इसलिए तुरीय मुक्त तत्त्व है।

नात्मानं न परांश्चैव न सत्यं नापि चानृतम्।
प्राज्ञः किन्चन संवेत्ति तुर्यं तत्सर्वदृक्सदा॥

(प्राज्ञ न तो अपने को, न पराये को और न सत्य को अथवा अनृत को जानता है किन्तु वह तुरीय सर्वदा सर्वदृक् है)

जो न आत्मा को जाने, न दूसरे को जाने न सत्य को और न झूठ को उसको प्राज्ञ बोलते हैं। "प्राज्ञः किन्चन संवेत्ति" प्राज्ञ कुछ भी नहीं जानता। "तुर्यं तत्सर्वदृक्सदा" तुरीय सदा सब कुछ जानता है। क्योंकि वहाँ अपने अतिरिक्त वास्तविक कुछ है ही नहीं। इसलिए वह न भी जाने तो भी जानता है, और जाने तो भी जानता है क्योंकि न जानना भी तो अज्ञान-कल्पित ही है।

पुनः चिन्तन करें। क्या स्वप्न से जग जाने के बाद आप यह कहोगे कि मुझे स्वप्न का ज्ञान नहीं है? नहीं। स्वप्न से जग जाने वाला आदमी अब कहेगा कि अब मुझे स्वप्न दिखते नही हैं। जागा हुआ कहता है कि स्वप्न है ही नहीं, देखूं क्या? जागे हुए आदमी को स्वप्न दिखते नहीं कि स्वप्न होते नहीं? 'दिखते नहीं' तो तब कहें जब हों और मुझे न दिखें। 'सुषुप्ति में जगत नहीं दिखता' ऐसा प्राज्ञ मानता है। क्यों मानता है? क्योंकि जगत की सत्ता मानता था और अब वहाँ जगत दिखता नहीं इसलिए सुषुप्त व्यक्ति अपने को अज्ञानी मानता है। जैसे स्वप्न से जागा आदमी स्वयं को स्वप्नों का अज्ञानी नहीं मानता, अपितु स्वप्नों का अभाव देखता है उसी प्रकार सुषुप्त व्यक्ति स्वप्न और जगत का अभाव नहीं देखता, बल्कि "मुझे दिखता नहीं था" - ऐसा देखता है। अन्धेरा हो जाए तो मैं कहूँगा कि, 'तुम मुझे नहीं दिखते।' मान लो सभा बन्द हो जाए और इस सभा पण्डाल में कोई आदमी मुझे नज़र न आये तो क्या मैं कहूँगा कि मुझे आदमी नज़र नहीं आ रहे? नहीं। तो आत्मज्ञानी वास्तविक आत्मा के अतिरिक्त जगत को कुछ स्वीकारता ही नहीं। इसलिए वह अज्ञानी हो ही नहीं सकता। अज्ञानी तो वे मूर्ख होते हैं जो जगत को मानते हैं और कहते हैं कि हमें नहीं दिखता। इसलिए प्राज्ञ अज्ञानी है पर आत्मवेत्ता अज्ञानी नहीं है। इसलिए वह जगत का अभाव देखते समय भी यह नहीं मानता कि "जगत का अभाव नहीं दिखता है। मेरे को ज्ञान नहीं रहा।" वह देखता है, कि ज्ञान तो है पर जगत नहीं है। ज्ञान तो है पर स्वप्न नहीं है। ज्ञान तो है पर नींद नहीं है। मैं तो हूँ पर जगत नहीं है। इसलिए वह अपना अभाव नहीं देखता, जगत का अभाव देखता है। वह सोता नहीं है। सोने वाला जगत का अभाव न देखकर अपने ज्ञान का अभाव देखता है। जब ज्ञानवान जगत नहीं देखता तो वह जगत का अभाव देखता है। जिसने सम्पूर्ण अवस्थाओं का अभाव देख लिया हो वह किसका अज्ञानी होगा। जगत का? नहीं। जगत का अज्ञानी है नहीं और अपना? आप तो है ही आत्मा। इसलिए आत्मा का अज्ञानी नहीं। जगत है नहीं, इसलिए जगत का भी अज्ञानी नहीं। इसलिए आत्मवेत्ता कभी अज्ञानी होता ही नहीं। यदि जगत-दृष्टि छोड़ दो तो तुम भी अज्ञानी नहीं हो। इसलिए तुरीय सर्वदृक् है।

अन्यथा गृह्णतः स्वप्नो निद्रा तत्त्वमजानतः।
विपर्यासे तयोः क्षीणे तुरीयं पदमश्नुते॥15॥

(अन्यथा ग्रहण करने से स्वप्न होता है तथा तत्त्व को न जानने से निद्रा होती है। और इन दोनों विपरीत ज्ञानों का क्षय हो जाने पर तुरीय पद की प्राप्ति होती है।)

अन्यथा ग्रहण का नाम स्वप्न है और सत्य के, सच्चाई के ध्यान न रहने का नाम नींद है

अन्य कुछ दिखने लगने का नाम स्वप्न है। इस जगत के न दिखने को तुम नींद कहते हो या नहीं? नींद कहते हैं। आप प्रायः कहते हो कि स्वप्न में भी नींद थी। मैं पूछता हूँ कि जब आप स्वप्न देख ही रहे थे तो उसे नींद क्यों कहते हो? नींद तो कुछ न दिखने का नाम है? यदि नींद और स्वप्न को संक्षेप में बतायें तो कह सकते हैं कि

न दिखने का नाम नींद और अन्यथा दिखने का नाम स्वप्न है। स्वरूप से अन्यथा जगत है। अन्यथा को सत्य देखना स्वप्न है और अपने को न देखना नींद है।

"अन्यथा गृह्णतः स्वप्नो निद्रा तत्त्वमजानतः" तत्त्व के न जानने का नाम निद्रा है और विपरीत देखने का नाम स्वप्न है।

"विपर्यासे तयोः क्षीणे तुरीयं पदमश्नुते"

६.२ आत्मबोध प्राप्त व्यक्ति अज, अनिद्र एवं स्वप्नरहित अनुभव करता है

विपरीत भावना भी चली गई और स्वरूप की अज्ञानता का भ्रम भी टूट गया। ज्ञान-स्वरूप हो तो फिर "विपर्यासे तयोः" इन दोनों के क्षय हो जाने पर "क्षीणे तुरीयम् पदमश्नुते" तुरीय पद अर्थात आत्मपद का सुख प्राप्त हो जाता है।

अनादिमायया सुप्तो यदा जीवः प्रबुध्यते।
अजमनिद्रमस्वप्नमद्वैतं बुध्यते तदा॥16॥

(जिस समय अनादि माया से सोया हुआ जीव जागता है उसी समय उसे अज, अनिद्र और स्वप्नरहित अद्वैत आत्मतत्त्व का बोध प्राप्त होता है।)

जाग्रत में, स्वप्न में, सुषुप्ति में, आत्मा से अनभिज्ञ रहकर अनादिकाल से सोया हुआ यह जीव जब जागता है तो सबको स्वप्न मान लेता है। जब सबको स्वप्न मान लेता है तब यह जागा हुआ कहलाता है। तब यह अज, अनिद्र और अस्वप्न वाला कहलाता है। अभी तक जन्मा कहता था। अब यह अजन्मा कहलाता है। तब यह कहेगा कि अजन्मा होने के साथ ही अब नींद भी मुझे नहीं। आत्मा में अज्ञानरूपी नींद नहीं है। इसलिए इसे "अनिद्रम्" और "अस्वप्नम्" कहा क्योंकि स्वप्न की पहिचान है कि जो सच्चा लगे। अब यह सम्पूर्ण जगत आत्मा से भिन्न सत्य नहीं लगता। इसलिए इसे (आत्मा को) अजम्, अनिद्रम, अस्वप्नम्, अद्वैतम्, कहा।

७

आत्मा और उसके पादों के साथ ओंकार और उसकी मात्राओं की एकता

सोऽयमात्माध्यक्षरमोङ्कारोऽधिमात्रं पादा मात्रा मात्राश्च पादा अकार उकारो मकार इति ॥८॥

(वह यह आत्मा अक्षर दृष्टि से ओंकार है, वह मात्राओं को विषय करके स्थित है। पाद ही मात्रा हैं और मात्रा ही पाद है। वे मात्रा अकार, उकार और मकार हैं।)

मैंने पहले यद्यपि बोल दिया था कि ओम में 'अ', 'उ' और 'म' होते हैं, पर वहाँ ओम मात्र कहा गया था। यह भी बताया गया था कि भूत, भविष्यत्, वर्तमान, सब ओम ही है। जो वर्तमान में हो वह, जो पहले बोला जा चुका हो वह, और जो आगे बोलना हो वह सब, ओम होता है। 'अ' बोल चुके। अब 'उ' चल रहा है। 'म' आने वाला है। इस प्रकार जो आने वाला है, जो अभी है, और जो बीत चुका है, वह सब ओम ही है।

'सोऽयमात्मा' अर्थात जो अभी तक आत्मा बताई, वह अध्यक्षर वाचक की दृष्टि से ओंकार है। जिन शब्दों से बोलकर बताते हैं वे वाचक होते हैं। जिसको शब्दों से बताते हैं वह वाच्य होता है। जैसे कथा, कथ्य और कथक्कड़ तीन शब्द हैं। जो कथा करता है, वह कथक्कड़ और जिसकी कथा की जाए वह कथ्य होता है। अर्थात चौथे की कथा है वह अकथ है। इसलिए तीन की कथा की है। पर कथा करनी किसकी है? चौथे की। तीनों को कह दिया 'यह ऐसा नहीं है' बस यही इसकी कथा है। उसकी सीधी कोई कथा नहीं है। इसलिए जाग्रत के विश्व की कथा, स्वप्न के तैजस की कथा और सुषुप्ति के प्राज्ञ की कथा कही। 'ये (आत्मा) वह नहीं है', 'ये नहीं है' 'इन सब में है', यही उसकी कथा है। और उसी को कहा कि 'सोऽयमात्मा' अर्थात् यही आत्मा है।

अक्षर की दृष्टि से, भाषा की दृष्टि से, शब्द की दृष्टि से ये ओंकार है। और वह सब जो ओंकार है, वह अधिमात्रा से मात्रा वाला है। मात्राओं का आश्रय करके वह आत्मा रहता है। इन्हीं मात्राओं के सहारे आत्मा बोला जाता है एवं कहा जाता है। मात्राओं

के सहारे ही ॐ का उच्चारण किया जाता है। ॐ बिना मात्राओं के बोल कर दिखाओ। यदि अ, उ तथा म न निकालें और जुबान न खोलें तो क्या बोल पाओगे? नहीं। आत्मा के चार पाद 'ओंकार' को आश्रय करके रहते हैं। इन्हीं के सहारे वह बोला जाता है, प्रकट होता है तथा कहा जा सकता है। यदि इसका वर्णन करना हो तो ॐ ही बोलना पड़ेगा। इसलिए 'तस्य वाचक प्रणवः' अर्थात् प्रणव ही उसका वाचक है। प्रणव के बिना उसको ठीक से नहीं कहा जा सकता।

'अधिमात्रं पादा मात्रा मात्राश्च पादा'

पाद ही मात्रा है और मात्रा ही पाद है। पाद और मात्रा एक ही चीज़ है। तीन मात्राएँ, तीन पाद। अमात्र और तुरीय। जो ओम् है वही आत्मा है। जो आत्मा है, वही ॐ है। जो ब्रह्म है वही आत्मा है, जो आत्मा है वही ब्रह्म है। जो आत्मा है वही ॐ है। अन्त में फिर कहेंगे कि मात्रा ही पाद है और पाद ही मात्रा है। मात्राएँ तीन हैं तो पाद भी तीन हैं। फिर कहते हैं कि वहाँ जो अमात्र है वही यहाँ तुरीय है। इस प्रकार इनकी एकता स्थापित की गई। फिर कहते हैं कि किसकी किससे एकता करें? कितनी मात्राएँ हैं? तो कहते हैं अकार, उकार, मकार की।

७.१ अकार और विश्व (बहिष्प्रज्ञता) की एकता

जागरितस्थानो वैश्वानरोऽकारः प्रथमा मात्राप्तेरादिमत्त्वादाप्नोति ह वै सर्वान्कामानादिश्च भवति, य एवं वेद॥९॥

(जिसका जागरित स्थान है वह वैश्वानर व्याप्ति और आदिमत्त्व के कारण (ओंकार की) पहली मात्रा अकार है। जो उपासक इस प्रकार जानता है वह सम्पूर्ण कामनाओं को प्राप्त कर लेता है और महापुरुषों में आदि (प्रधान) होता है।)

जाग्रत स्थान का जो वैश्वानर है, यही अकार है। ॐ का अ और आत्मा के प्रथम पाद का अ अर्थात् जाग्रत विश्व और अ एक हैं। क्योंकि ॐ में अ पहला ही नम्बर है और सृष्टि में आत्मा का प्रथम पाद जाग्रत विश्व भी पहले ही है इसलिए पहले को पहले से जोड़ना है। इसके कुछ लक्षण भी मिलते हैं जैसे व्यापकत्व। एक दिन मैंने पूछा था कि आपने क, ख, ग, घ पढ़ा है या क्, ख्, ग्? इसका मतलब क में भी अ, ख में भी अ,

सब व्यंजनों में अ। वैसे तो स्वर 'उ' भी है। परन्तु पढ़ने समय प्रधानता अ की रही है। अ की प्रधानता से हमने भाषा विज्ञान सीखा। ऐसे ही हम सभी ज्ञान जाग्रत के वैश्वानर में ही सीखते हैं। सीखने का काम भी यहीं होता है, इसलिए भी दोनों के गुण मिलते हैं। जैसे शादी में गुण मिलाए जाते हैं। उसी प्रकार यहाँ भी हम अकार और विश्व की एकता करते समय उनके गुणों की समानता पर विचार करेंगे।

'अ' का रिश्ता विश्व से है, वैश्वानर से है। जाग्रत के अभिमानी अर्थात् विश्व से अकार का मेल खाता है। वाणी में उसका वर्चस्व है। इसी प्रकार ज्ञान-विज्ञान में भी इसका महत्व है। इसलिए इसकी एकता है। संख्या में प्रथम क्रम की दृष्टि से, गुणों से, अभिव्यक्ति से तथा व्यापकत्व से भी समानता है। सुषुप्ति की अभिव्यक्ति स्वप्न की अभिव्यक्ति, तथा जाग्रत की अभिव्यक्ति एवं इन सबका निर्णय यहीं होता है। यदि कुछ बोलना हो तो 'अ' के सहारे ही हम बोलते हैं। इसलिए 'आप्तेः आदिमत्वा' - व्यापक होने से और पहला होने से "अ" और वैश्वानर एक है।

"आप्नोति ह वै सर्वान् कामानादिश्च भवति, य एवं वेद" वह सब कामनाओं का आदि है जो इस पहली मात्रा की एकता को जानने लगता है। वह सृष्टि में, मनुष्यों में आदि पुरुष होता है। वह मनुष्यों में श्रेष्ठ होता है, मान्य होता है। "सर्वान् कामान् आप्नोति" वह सभी कामनाओं की पूर्ति कर लेता है। उसकी कोई कामना अधूरी नहीं रहती। उसकी तृप्ति में कोई कमी नहीं रहती। वह अकार की वैश्वानर से एकता करके अपनी विभुता को और अक्षर की विभुता के माध्यम से अपने को विश्वरूप अनुभव करता है।

७.२ उकार और तैजस (अन्तःप्रज्ञता) की एकता

स्वप्नस्थानस्तैजस उकारो द्वितीया मात्रोत्कर्षादुभयत्वाद्वोत्कर्षति ह वै ज्ञानसन्ततिं समानश्च भवति नास्याब्रह्मवित्कुले भवति, य एवं वेद ॥१०॥

(स्वप्न जिसका स्थान है वह तैजस उत्कर्ष तथा मध्यवर्तित्व के कारण ओंकार की द्वितीय मात्रा उकार है। जो उपासक ऐसा जानता है वह अपनी ज्ञान सन्तान का उत्कर्ष करता है, सबके प्रति समान होता है और उसके वंश में कोई ब्रह्मज्ञानहीन पुरुष नहीं होता।)

स्वप्न स्थान का जो तैजस है वह `उ' है। `उ' की एवं तैजस की (स्वप्न वाले) की एकता क्यों है? क्योंकि सृष्टि वहाँ (जाग्रत में), सृष्टि यहाँ (स्वप्न में), स्वर `उ' भी है, स्वर `अ' भी है। मैं पूछना चाहूँगा कि फिर स्वप्न को नम्बर दो क्यों दिया? क्योंकि ॐ में भी उकार बड़े महत्व का है। एक तो `अ' से शुरु करते हैं, फिर `उ' में जाकर जोड़ते हैं। ॐ के अ, उ तथा म में `उ' उत्कर्ष भी है और मध्यवर्ती भी हैं। अ और म् के बीच में `उ' है। सुषुप्ति और जाग्रत के बीच में स्वप्न है। इस प्रकार विश्व और प्राज्ञ के बीच में तैजस होने से तैजस और उकार की भी एकता है। `उभयत्वाद' अर्थात् उभय होने से और उत्कर्ष आदि के होने से इन दोनों की एकता है। `ज्ञान सन्ततिं समानश्च भवति नास्या ब्रह्म वित्कुले भवति, य एवं वेद' अर्थात्

ऊपर वर्णित इस उकार की और तैजस की एकता को जो इस तरह जानता है वह ज्ञान सृष्टि वाला, ज्ञान सन्तान वाला होता है। वह गुरु होता है और शिष्यों को जन्म देता है। पुत्रों को जन्म देने वाला नहीं, शिष्यों को जन्म देने वाला होता है। वह इस उपदेश द्वारा उपरोक्त वर्णित ज्ञान की सृष्टि पैदा करता है। ऐसे कुल में अर्थात् उसके सत्संगी परिवार में, श्रोताओं में अज्ञ नहीं रहते। अब्रह्मवित् नहीं होते, ब्रह्मवित् होते हैं। क्योंकि प्रतिदिन चर्चा एवं चिन्तन का केन्द्र बिन्दु वही रहता है। अन्य पर प्रमुखता नहीं रहती। जिस प्रकार बत्तख का बच्चा पैदा होते ही यदि पानी में फेंक दिया जाय तो तैरने लगता है। इसी प्रकार ब्रह्मज्ञानियों के बच्चे `सोऽहम् सोऽहम्' `चिदानन्द रूपः शिवोऽहम् शिवोऽहम्' वैसे ही चिल्लाने लगते हैं। इस प्रकार जो इसको ठीक से जानता है उस ब्रह्मज्ञानी के कुल में कोई अब्रह्मवित् नहीं होता।

७.३ मकार और प्राज्ञ (प्रज्ञानघन) की एकता

सुषुप्तस्थानः प्राज्ञो मकारस्तृतीया मात्रा, मितेरपीतेर्वा मिनोति ह वा इदं सर्वमपीतिश्च भवति य एवं वेद॥११॥

(सुषुप्ति जिसका स्थान है वह प्राज्ञ मान और लय के कारण ओंकार की तीसरी मात्रा मकार है। जो उपासक ऐसा जानता है वह इस सम्पूर्ण जगत का मान - प्रमाण कर लेता है और उसका लय-स्थान हो जाता है।)

सुषुप्ति स्थान वाला जो प्राज्ञ है वह ओंकार की तीसरी मात्रा मकार है। ओंकार की तीसरी मात्रा मकार और सुषुप्ति स्थान का प्राज्ञ एक ही है। इनकी एकता क्यों है? एक तो तीनों आखिर के हैं। इन दोनों (विश्व एवं तैजस) का लय इसी (प्राज्ञ) में होता है। विश्व, तैजस का लय प्राज्ञ में है। ॐ के 'अकार' और 'उकार' का लय मकार में होता है। अकार और उकार का लय मकार में होने के बाद जब दुबारा ॐ बोलते हैं तो 'अ' फिर उसी से निकलता है। जैसे ॐ, ॐ, ॐ का चक्र बना दो। ॐ का बार-बार उच्चारण करने पर पता चलेगा कि 'म' में 'अ' और 'उ' समा गए और दुबारा अ, उ उसी से फिर निकले। इसी प्रकार जाग्रत और स्वप्न दोनों सुषुप्ति में समाते हैं। इस प्रकार लय स्थान होने से दोनों की समानता है। दोनों को अपने में इस प्रकार समा लेते हैं जैसे थोड़ी चीज़ बड़े बर्तन में समा जाती है।

वामन भगवान ने तीन पैरों में सब कुछ नाप लिया था। इस आत्मा रूपी ब्रह्म ने, विष्णु भगवान के तीन पादों में जाग्रत-जगत, स्वप्न-जगत, सुषुप्ति सब नाप लिया गया। कितने पैर में? दो में तो सब जगत नप गया और कहने लगे "अब क्या नापें?" राजा बलि कहने लगे, "अब हम ही को नाप लो।" सब विष्णु ने ले लिया। तो ये आत्मा रूपी विष्णु, शिव दो में ही सब कुछ ले लेता है। बचता ही कुछ नहीं। तुम्हारा दो में ही सब कुछ गया। तीसरे में तो प्राज्ञ हो गया। इसलिए सुषुप्ति का प्राज्ञ सब कुछ नाप चुका है। वहाँ कुछ बचता ही नहीं। इसलिए नाप लेने के कारण और लय-स्थान होने के कारण प्राज्ञ की और मकार की समानता और एकता है।

'**इदं सर्वमपीतिश्च भवति य एवं वेद**' अर्थात् जो व्यक्ति इस तरह जानता है वह सारी सृष्टि को नाप लेता है, लय-स्थान बन जाता है। इसी अर्थ में भगवान कृष्ण कहते है - 'पिता अहम अस्य जगत' मैं इस सारे जगत का पिता हूँ। मुझसे यह सृष्टि हुई है। मेरे में ही लय होती है। आर्यसमाजी कहते हैं कि यह गीता गलत है क्योंकि कृष्ण अपने को भगवान कहते हैं। हमारे यहाँ यदि यह न कहें तो हमारा उपनिषद् पूरा ही नहीं होता। यदि थोड़ा सावधान रहें तो लगेगा कि ये सारी सृष्टि कृष्ण से ही नहीं अपितु तुम्हारे ही प्राज्ञ से निकलती है और फिर लय होती है। तुम विष्णु हो क्योंकि तुम्हीं ने सब कुछ नाप रखा है। तुम्हीं शिव हो क्योंकि तुम में ही सब अध्यस्त जहाँ सब मर जाते हैं, शिव बाबा भस्म लगाकर बैठे हैं। सबकी भस्म लगाकर तुम्हीं तो बचते हो। तुम शिव हो।

तुम विष्णु हो। तुम कृष्ण हो। परन्तु अवतार की दृष्टि से नहीं, उनकी सामर्थ्य की दृष्टि से नहीं। उनके अस्तित्व अर्थात साक्षी की दृष्टि से कृष्ण हो, शिव हो।

जाग्रत में एक-दूसरे की सामर्थ्य भिन्न है। जैसे तुम जगते हो, वैसे ही हम जगते हैं। चोर जगकर एक चोरी करता है, तुम सत्संग करते हो। तुम कल्याण को प्राप्त हो जाओगे, वह नहीं प्राप्त होगा। तुम कल जानते-जानते परम-तत्त्व को प्राप्त होकर मुक्त हो जाओगे वह और नरक चला जाएगा। भगवान ने कहा `क्षिपाम्यहम`। उसको कहाँ फेंक देते हैं? नरक में। दुःख में धकेल देते हैं। इस तरह से जो इस अवस्था को जानता है, वह महापुरुषों में आदि हो जाता है। वह योगियों में, ऋषियों में, मुनियों में, आदि वन्दनीय होता है और उसकी कोई कामना अधूरी नहीं रहती है। बल्कि उनके समीप रहने वालों की भी सभी कामनाएँ निवृत्त हो जाती है, पूर्ण हो जाती हैं।

७.४ अमात्र और आत्मा की एकता

अमात्रश्चतुर्थोऽव्यवहार्यः प्रपंचोपशमः शिवोऽद्वैत एवमोङ्कार आत्मैव संविशत्यात्मनात्मानं य एवं वेद ॥१२॥

(मात्रारहित ओंकार तुरीय आत्मा ही है। वह अव्यवहार्य, प्रपंचोपशम, शिव और अद्वैत है। इस प्रकार ओंकार आत्मा ही है। जो उसे इस प्रकार जानता है, वह स्वतः अपने आत्मा में ही प्रवेश कर जाता है)

यहाँ प्रश्न पूछा जा सकता है कि अमात्र क्या है? अकार होता है, उकार होता है, मकार होता है, परन्तु यह अमात्र क्या है? ऐसा लगता है जैसे अमात्र कोई कपोल-कल्पित बात है, झूठ है, फ्राड है। अ होता है, उ होता है, परन्तु हम पूछते हैं कि अ, उ तथा म किसमें होते हैं? "ॐ" में।

आर्यसमाजी `ॐ' को `ओउम' इस प्रकार लिखते हैं। शायद उनको इस प्रकार लिखा ॐ कल्पना लगती है। विभिन्न भारतीय भाषाओं में एक ओंकार अलग-अलग प्रकार से लिखा गया। बंगालियों का ॐ, दक्षिणवासियों का ॐ, तेलगूवासियों का ॐ, पंजाबियों का ॐ, सबकी भाषाओं का ॐ अलग-अलग है। अन्य को छोड़ो, आर्यसमाजी एवं सनातनियों का ओम अलग-अलग है। सनातनियों का `ॐ' ये है। इसमें चन्द्रमा और बिन्दी, ये डिजाइन

सनातनियों के 'ॐ' की है। हम लोगो ने भगवान का नाम भी अलग-अलग कर रखा है। चूंकि हिन्दी एवं संस्कृत की लिपि में अ, उ तथा म को सब जानते हैं और अ+उ = ओ होता है, इसलिये आर्यसमाज ने शायद ज्यादा ईमानदारी के कारण जो दिखता है वैसा ही ओउम् लिखना पसन्द किया। अर्थात् कल्पना को कोई स्थान नहीं दिया।

सनातनियों एवं आर्यसमाजियों दोनों की लिपि एक समान है। तीनों ही वर्ण दोनों के यहाँ एक जैसे हैं। फिर आर्यसमाजियों एवं सनातनियों का ओम दो तरह का कैसे हो गया? जिनकी लिपि अलग है उनके ॐ का डिजाइन बदल जाय तो कोई बात नहीं। अब जैसे अंग्रेजी में कोई ओम लिखना चाहे तो 'OM' इस प्रकार लिखेगा। वहाँ 'O' से ही ओ हो गया। उनकी लिपि अलग है। उनसे लिपि के भेद का कोई विवाद नहीं है। परन्तु सनातनियों एवं आर्यसमाजियों दोनों की लिपि हिन्दी होने के बाद भी ये दो तरह के ओम् क्यों लिखते हैं? सनातनियों ने अपना ओम् अलग करने के लिए डिज़ाइन थोड़ी बदल दी।

जैसा कि ऊपर बताया गया आर्यसमाजी अपने को ज्यादा ईमानदार मानते हैं। चूँकि अ, उ तथा म तीनों वर्ण दिखते हैं अत "ओउम" लिखने में वे समझते होंगे कि उन्होंने कोई कल्पना नहीं की। परन्तु यदि उन्होंने ओउम लिखने में कोई कल्पना नहीं की तो ॐ में अमात्र का विश्लेषण कैसे करेंगे? अ हो गया, उ हो गया, म हो गया, अमात्र कहाँ है?

७.५ विश्वास एवं अध्यात्म

यदि बहुत ईमानदार व्यक्ति इलाहाबाद जाये और वह त्रिवेणी (गंगा, यमुना तथा सरस्वती का संगम) में स्नान कर लें तो हम उन्हें एक लाख रुपये इनाम देंगे। बिना कल्पना अथवा अन्ध विश्वास के यदि कोई त्रिवेणी में स्नान करके लौटे तो हम उनके शिष्य बनने को तैयार हैं। क्या कोई व्यक्ति गंगा तथा यमुना के अतिरिक्त तीसरी नदी भी वहाँ दिखा पायेगा? कोई कहेगा नीचे से आती है, कोई कहेगा ऊपर से इलती है। दो नदियाँ अर्थात् गंगा तथा यमुना तो हैं, परन्तु वहाँ तीसरी अर्थात् सरस्वती तो है ही नहीं।

बिना विश्वास के अध्यात्म चल ही नहीं सकता।

व्यवहार में अमृत और जहर दो शब्द बोले जाते हैं। जहर तो आप जानते हैं परन्तु जहर की तरह अमृत भौतिक नहीं है। हम पशु, पक्षी, मनुष्य यहाँ तक कि साधु को भी जहर देकर मार सकते हैं क्योंकि जहर भौतिक है। यदि अमृत भौतिक होता तो किसी भी जीव को चाहे वह आर्यसमाजी हो, नेता हो या अन्य कोई, अमृत के एक इंजेक्शन से अमर किया जा सकता था। ऐसी स्थिति न केवल आदमी को बल्कि गधे को भी इंजेक्शन लगाकर अमर किया जा सकता था। परन्तु अमृत सिर्फ मनुष्यों को ही क्यों मिलता है? क्योंकि वह (अमृत) बुद्धिग्राह्य है। वह भौतिक नहीं है, इन्द्रियग्राह्य नहीं है। इसलिए भौतिक जगत में अमृत केवल शब्द द्वारा ही मिलता है। सरस्वती भी भौतिक नहीं है, वह भी अभौतिक है। वह ब्रह्मस्वरूप है। इसलिए अमात्र भी जुबान और इन्द्रियों का विषय नहीं है। वह अ तथा उ से विलक्षण है। इसीलिए सत्य सब अतीन्द्रिय है। इसी तरह अमृत भी अतीन्द्रिय है। ऐसा नहीं कि अमुक आदमी को अमृत मिल गया। परीक्षित को भी भौतिक वाला नहीं मिला। पर परीक्षित को अमृत की प्राप्ति हो गई। यदि अमृत भौतिक होता तो परीक्षित के अलावा नास्तिक को भी मिल जाता। इंजेक्शन बन जाते। यदि कोई नहीं भी लगवाता तो चार आदमी छाती पर चढ़कर लगा देते और वह अमर हो जाता। जैसे बैल एवं अन्य जानवर दवा नहीं खाते पर जबरदस्ती उनको खिला दी जाती है।

कहने का भाव यह है कि अमृत भौतिक नहीं है, इन्द्रियग्राह्य नहीं है। आनन्द और अमृत भी इन्द्रियों से नहीं मिलता है। जहाँ इन्द्रियाँ नहीं रहतीं वहाँ अमृत रहता है। इन्द्रियाँ बनी रहें और इन्द्रियों के विषयों को ग्रहण न करो तो अमृत मिल जाता है। शास्त्र के अनुसार जो त्रिवेणी में भाव से नहाने जाते हैं वही त्रिवेणी में स्नान कर पाते हैं। नास्तिक कभी त्रिवेणी में नहीं नहाता। त्रिवेणी तो आस्तिकों के लिए है। नास्तिकों के लिए तो वह दुवेणी है। जो शास्त्र पर विश्वास नहीं करता वह परमात्मा को प्राप्त नहीं कर सकता है। इसलिए शास्त्र को सत्य निष्ठा से पढ़ना एवं सुनना चाहिये। धर्म पर विश्वास दिलाने वाला शास्त्र है। वह इन्द्रियों का विषय नहीं है। गंगा के नहाने से पुण्य होता है। परन्तु गधे, सूअर आदि जानवरों को स्नान कराने से क्या वे पवित्र एवं पुण्यवान होंगे? ऐसे तो मछलियाँ वहीं रहती हैं। सन्त कबीर साहिबजी ने इन सबका खण्डन किया, परन्तु वे इस सन्दर्भ में थोड़े नास्तिक ढंग से बोलते हैं।

मछलियाँ क्यों नहीं तरीं जिसका घर ही जल में है। इसलिये कबीर साहेब को भी त्रिवेणी नहीं मिलेगी। उन्हें गंगा में तरने जैसी कोई बात नहीं मिलेगी। हमारा यह मानना है कि गंगा में स्नान करने से विश्वास शुरू होता है और जो इतना विश्वास करता है, वही आज

नहीं कल अमृत को भी प्राप्त कर लेता है। महर्षि अरविंद ने जब अध्यात्म के विषय में कुछ लिखा, तो लोगों ने कहा, "यह अन्धविश्वास की बात है। महामानव, अतिमानव की कल्पना अन्धविश्वास है।" इस पर उन्होंने कहा, "विश्वास तो सब अन्ध ही होते हैं। सिद्ध होने के बाद वे अपरोक्ष कहलाते हैं" इस प्रकार परमात्मा भी पहले अन्धविश्वास ही है। अमृत भी अन्धविश्वास ही है। सरस्वती भी अन्धविश्वास ही है। पर जब अनुभूति होगी तब स्वयं अनुभव करोगे कि आज हमने सचमुच सरस्वती में स्नान कर लिया। रामचरितमानस में तभी कहा गया,

> रामभक्ति जँह सुरसरिधारा।
> सरसइ ब्रह्म बिचार प्रचारा॥
> बिधिनिषेधमय कलिमलहरनी।
> करम कथा रबिनंदनि बरनी॥

ब्रह्म विचार का प्रचार सरस्वती है। यह करना है, यह नहीं करना है, आदि कर्म का वर्णन जमुना है और भगवान की भक्ति गंगा है। भक्ति से भी ज्ञान अलग कर दिया। क्या भगवान की भक्ति के अलावा ज्ञान है? हाँ। भगवान का विश्वास गंगा है, भक्ति है। भगवान क्या हैं? ब्रह्म का अनुभव। ये ही सरस्वती है।

इसलिए यह उपनिषद कहता है कि "अमात्रश्चतुर्थो" अमात्र चौथा है। और चौथा क्या था? आत्मा, तुरीय, शिव। तीन पादों के अलावा जो आत्मा का चौथा पाद है वही तुरीय है। वही ओंकार का अमात्र है। अमात्र और तुरीय एक है। प्राज्ञ और मकार एक है। उकार और तैजस एक है। अकार और वैश्वानर (विश्व) एक है। इस प्रकार इन चारों की एकता हुई। ये तीन दिखने वाले अकार, उकार, मकार, विश्व, तैजस तथा प्राज्ञ हैं। ये तीन ही दिखते हैं। ऐसे ही ओम की भी तीन ही मात्राएं दिखती हैं। अमात्र दिखता नहीं है, पर है। ऐसे ही तुरीय भी मालूम नहीं पड़ता, पर है। इसलिए न मालूम पड़ने वाले से न मालूम पड़ने वाले की एकता और मालूम पड़ने वालों से मालूम पड़ने वालों की एकता स्थापित की।

"अमात्रश्चतुर्थोऽव्यवहार्य" चौथा अव्यवहार्य भी है। यह बोलने में नहीं आता। जो बोलने में आता है उस ओम को तो आप जानते हो। आप पूछेंगे कि इसके अलावा जो ओम है वह कहाँ है? हम कहेंगे "उसे बोलेंगे कैसे?" वह बोलने में तो आता ही नहीं। यदि बोल कर बताएंगे तो मात्रा हो जाएगी। परन्तु यदि नहीं बोलेंगे तो सुनेंगे कैसे? अमात्र ओम - जिसमें कोई मात्रा नहीं, प्रकट नहीं हो सकता। अप्रकट है और है। आप पूछेंगे कि,

"क्यों मान लें कि है?" यदि यह नहीं है तो "अकार कहाँ से आया?" आप कहोगे "ऐसे ही आ गया" तो हम कहेंगे कि "जो नहीं है, उसे बोलकर दिखाओ।" जितने अक्षर हैं उन्हीं को तो बोलते हैं। ऐसा नहीं कि बोलने से अक्षर हो जाता हो। एक बात गुरुवाणी में सुनी थी। उसमें शब्द की भावना तो ठीक है पर अर्थ थोड़ा भिन्न है: "जहाँ बोल अक्खर तहाँ आवा"। "जहाँ अबोल तहाँ मन न रहावा"। अर्थात् जहाँ बोलेंगे वहीं अक्षर आ जाएगा। और मन से भी आवाज़ आती है, मन भी बोलता है। मन से विश्व, तैजस और प्राज्ञ निकलते हैं और जुबान से अकार, उकार, मकार निकलते हैं। इसलिए वाणी और मन एक जैसे हैं। वाणी और मन की भी एकता है। वाणी से ओम् प्रकट होता है और मन से विश्व, तैजस और प्राज्ञ प्रकट होते हैं। अमन में वह रहता है और बिना वाणी के वह अमात्र रहता है। इसलिए आर्यसमाजी, सनातनी, बंगाली , पंजाबी, तेलगू सबका अमात्र ओम् एक है। अमात्र में कोई फर्क नहीं है। बिना बोला हुआ ओम् सबका एक है। वहाँ लिपि का भेद नहीं है। कई ओम् न बोलकर ॐ भी बोल सकते हैं क्योंकि अर्धमकार है। अमात्र को लोग ॐ भी बोलते हैं। इसलिए यह अव्यवहार्य है। अमात्र हमारे सुनने, बोलने में नहीं आता। और "प्रपंचोपशम्" अर्थात् जहाँ अकार, उकार, मकार सभी ओम् का प्रपंच समाप्त हो जाता है। ये तीन मात्राएँ प्रपंच ही हैं। यह अमात्र प्रपंचोपशम है। जो अमात्र है वही शिव है। वही ओम् है। वही अद्वैत है। इस प्रकार जो अमात्र ओंकार है वह आत्मा ही है। इसी प्रकार जो मात्राएँ हैं वे भी आत्मा ही हैं क्योंकि पाद मात्रा है और मात्रा पाद है। एक मन्त्र आता है:

त्रिपादूर्ध्वमुदैत्पुरुषः पादोस्येहाभवत्पुनः (शुक्लयजुर्वेद)

इन तीन पादों से पुरुष ऊपर है। उसके ही पाद हो गए। जो तुरीय है वही पाद रूप में प्रकट हुआ। जो तीन पादों से ऊर्ध्व था, उसी से तीन पाद निकले। जो अमात्र था उसी से मात्राएँ निकल आईं। जैसे बाजे में उँगली रखकर सब शब्द निकाल लिये जाते हैं। बीज से क्या निकालोगे? कोई भी वृक्ष? नहीं। जैसा बीज वैसा वृक्ष। जुबान से कितने अक्षर निकालोगे? क, ख, ग, घ, ङ, ... त्र, ज्ञ तथा अन्य कुछ व्याकरण के अक्षर जैसे श, ष, स, ह आदि। नए अक्षर अभी तक क्यों नहीं बनाए? इससे सिद्ध होता है कि जो है वही प्रकट होता है। इसलिए अमात्र ओम ही तीन मात्राओं में प्रकट हुआ तथा तीन मात्राओं से सम्पूर्ण विश्व प्रकट हुआ। इसलिए ओम ही सब कुछ है और सब कुछ ओम्

ही है। इसीलिए ओम से सभी मन्त्र निकले और सारे मन्त्रों से सम्पूर्ण व्यवस्था है। इस प्रकार वेद ॐ ही हैं। वेद ओम की व्याख्या है, ॐ का वर्णन है। मन्त्र तो सिर्फ ॐ ही है। ओम् ही वेद है। ॐ भी क्या है? सिर्फ अमात्र है। तीन पादों में सारी सृष्टि और इसका लय है और तुरीय इसका भी आश्रय है। इसलिए 'आत्मैव वेदं सर्वम्', यह ओंकार सबका आत्मा ही है। "सत्यात्मा आत्मानं" इस तरह जो जानता है वह अपने को ब्रह्म से अलग नहीं समझता। वह ऐसा जानने वाला आप आत्मा में ही प्रवेश कर जाता है। वह कभी ब्रह्म से अलग अपने को नहीं समझता

अप्रमत्तेन वेधव्यं सर्वतन्मयोभवेत्।
प्रणवोधनु सरो ह्यात्मा ब्रह्म तन्लक्ष्य मुच्यते।

जैसे बाण विद्या वाला एकाग्र चित्त से बाण को चलाकर लक्ष्य को भेदता है वैसे ही साधक प्रणव को धनुष बनाकर अकार, उकार, मकार, विश्व, तैजस, प्राज्ञ इन तीनों को कल्पित जानकर, अमात्र और तुरीय को एक करके आत्मा ही हो जाता है।

"आत्मविद् हर्षशोको जहाति
ब्रह्मविदाप्नोति परम" (उपनिषद)

"ब्रह्मविदाप्नोति परम्" ब्रह्मविद् परमात्मा को पा जाता है। जो आत्मवेत्ता तीन पादों को अध्यस्त और कल्पित समझकर शुद्ध आत्मा को अकल्पित जानता है, वह शोक, मोह से छूट जाता है। ये तीन उसकी प्रतीति मात्र हैं। वास्तविक आत्मा शुद्ध तुरीय है। अन्य कुछ वास्तविक है ही नहीं। चूंकि उसी का सब है इसलिए वही सब है। फिर भी ये प्रतीति और रहना तथा न रहना इनमें होता है। इस कारण से तुम इसे अविनाशी या ब्रह्म नहीं जान पाते। पर यदि ठीक से विचारो तो ये सब क्या हैं? "ब्रह्मैव वेदं सर्वम्" ये सब ब्रह्म ही है। ये दृष्टि केवल पढ़ने तक सीमित न हो, धीरे-धीरे यह अनुभव में आना चाहिये।

८

माण्डूक्योपनिषद् एवं इसके निहितार्थ

८.१ मंगलाचरण

ॐ भद्रं कर्णेभिः श्रृणुयाम देवा भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः।
स्थिरैरङ्गैस्तुष्टुवाँ सस्तनूभिर्व्यशेम देवहितं यदायुः॥
(हे देवगण हम कानों से कल्याणमय वचन सुनें। यज्ञकर्म में समर्थ होकर नेत्रों से शुभ दर्शन करें तथा अपने स्थिर अंग और शरीरों से स्तुति करने वाले हम लोग देवताओं के लिये हितकर आयु का भोग करें। त्रिविध ताप की शान्ति हो।)
स्वस्ति न इन्द्रो वृद्धश्रवाः स्वस्ति नः पूषा विश्ववेदाः।
स्वस्ति नस्तार्क्ष्यो अरिष्टनेमिः स्वस्ति नो बृहस्पतिर्दधातु॥
ॐ शान्तिः! शान्तिः!! शान्तिः!!!
(महान् कीर्तिमान् इन्द्र हमारा कल्याण करें, परम ज्ञानवान् पूषा हमारा कल्याण करे, जो अरिष्टों (आपत्तियों) के लिये चक्र के समान (घातक) है वह गरुड़ हमारा कल्याण करे तथा बृहस्पतिजी हमारा कल्याण करें। त्रिविध ताप की शान्ति हो।)

उपनिषद् एवं अन्य हिन्दू धार्मिक ग्रन्थों में किसी भी कार्यारम्भ से पूर्व मंगलाचरण एवं समापन में शान्तिपाठ बोलने की परम्परा रही है। तदनुरूप मंगलाचरण के रूप में उपरोक्त श्लोकों को प्रस्तुत किया गया है।

समस्त मन्त्रों का बीज मन्त्र - ॐ

ॐ हमारे हर मन्त्र से पहले लगता है। 'ॐ नमः शिवाय', 'ॐ नमो भगवते वासुदेवाय', 'ॐ नमो नारायणाय', 'ॐ भूर्भुवः स्वः.......', आदि, सभी मन्त्र ॐ से ही प्रारम्भ होते हैं। उपरोक्त मंगलाचरण ('ॐ भद्रं कर्णेभिः श्रृणुयाम......') भी ॐ का उच्चारण करके ही बोला जाता है। ॐ सब मन्त्रों का बीज मन्त्र है। अर्थात् सब मन्त्र ॐ

से ही निकले हैं। ऐसा लगता है कि ॐ से मन्त्र ही नहीं निकले, अपितु सारा विश्व ॐ से ही निकला है। वह ॐ है, और जो निकला है वह भी ॐ ही है।

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते।

(वह सच्चिदानन्द घन परब्रह्म सब प्रकार से पूर्ण है। यह जगत भी उस परब्रह्म से पूर्ण है। क्योंकि वह पूर्ण पुरुषोत्तम से ही उत्पन्न हुआ है। इस प्रकार परब्रह्म की पूर्णता से जगत पूर्ण होने पर भी वह परब्रह्म परिपूर्ण है। उस पूर्ण में से पूर्ण को निकाल लेने पर भी वह पूर्ण ही बचा रहता है।)

पूर्ण में से पूर्ण निकला है। पूर्ण में पूर्ण स्थित है। और जो निकला वह भी पूर्ण है तथा अन्त में पूर्ण में पूर्ण समा जाता है और पूर्ण रहता है। यह शून्य की तरह है। शून्य में से कुछ भी निकालते जाओ, या जोड़ते जाओ तो शून्य ही रहता है। शून्य से कितने ही शून्य निकाल लो फिर भी शून्य ही बचता है। इसी प्रकार शून्य में कितने ही शून्य जोड़ें तो भी शून्य ही रहता है। इस प्रकार शून्य लगभग पूर्ण अर्थात ब्रह्म की तरह है।

शिकागो में आयोजित विश्व धर्म सम्मेलन में स्वामी विवेकानन्द को शायद इसलिये शून्य पर बोलने को कहा गया था। उनके लिए 5 मिनट का समय निर्धारित था। परन्तु विषय की गहराई एवं उनकी प्रभावी वाणी को सुनकर अन्य वक्ताओं ने भी अपना समय उन्हीं को दे दिया। सम्मेलन में उपस्थित सभी महापुरुषों को जब उन्होंने 'Brothers and Sisters' कहकर सम्बोधित किया तो तालियों की गड़गड़ाहट हो गई थी। यह कितनी ऊँची बात है कि ईमानदारी से कोई व्यक्ति सम्पूर्ण मनुष्यों को 'भाई' और 'बहन' कहे। ये शब्द धीरे-धीरे हम लोगों की आदत में आ गए हैं। नहीं तो ये कितनी ऊँची बात है। यही कारण है कि सारी जनता उनके इन शब्दों को सुनकर गदगद हो गई और उत्साह में डूब गई।

मंगलाचरण में के "ॐ भद्रं कर्णेभिः श्रृणुयाम......" इन शब्दों का अर्थ है कि हम कल्याण की बात सुनें। हमें कानों से कल्याण की ही बात सुनने को मिले। हम यह प्रयास करें कि जहाँ कल्याण की बात हो वहीं जाकर सुनें। आँखों से हम कल्याणकारी रूप ही देखें। जिन चित्रों, वस्तुओं तथा व्यक्तियों को देखकर मेरे अन्दर शुभ भाव प्रकट हों, उनको ही देखें। अपने घरों में चित्र भी ऐसे टाँगे जो कल्याणकारी हों। ऐसी कविताएँ पढ़ें जो कल्याणकारी हों। ऐसे गाने सुनें जो कल्याणकारी हों। ऐसे नृत्य देखें जिससे श्रद्धा पैदा हो। ऐसे चित्रों, चलचित्रों एवं व्यक्तियों से दूर रहने का प्रयास करें जिनसे काम, क्रोध, ईर्ष्या तथा

युद्ध आदि की भावना पैदा होती हो। चलचित्रों, टेलीविजन धारावाहिकों आदि में मार-काट दुराचार, व्यभिचार, बलात्कार तथा गंदे आचरण के जो चित्र दिखाए जाते हैं वे कल्याणकारी नहीं हैं।

उपनिषद् के ऋषि ने कितनी गहरी समझ के बाद इस मंगलाचरण को लिखा होगा जिसको ठीक समझने से प्रत्येक व्यक्ति, समाज एवं राष्ट्र कल्याण की ओर उन्मुख हो सकता है। यदि शासन चलाने वाले देश के नेता इन मन्त्रों का ईमानदारी से पालन करते तो देश में कोई समस्या नहीं रहती। आप भी इन मन्त्रों के आधार पर यह निश्चय करें कि हम कल्याण की बातें ही सुनेंगे। महर्षि अरविन्द आश्रम में आम गृहस्थ की तरह कुछ समर्पित लोग रहते हैं। सब सेवा करते हैं, इनका अपना कुछ नहीं है। सब आश्रम का है। आश्रम की ओर से शिक्षा-व्यवस्था, चिकित्सा-व्यवस्था और मनोरंजन व्यवस्था है। मनोरंजन आवश्यक है। कैसी शिक्षा देनी है? - यह आश्रम पर निर्भर है। किस प्रकार का मनोरंजन - यह आश्रम तय करता है। सात्विक प्रवचनों के श्रवण द्वारा न केवल हमें आनन्द मिलता है अपितु मनोरंजन भी होता है। प्रेरणाप्रद भजन, अच्छी पुस्तकें, सात्विक खेल आदि श्रेयप्रद होने के साथ मनोरंजन प्रद भी होते हैं।

परन्तु आजकल मनोरंजन हेतु जो चलचित्र दिखाये जाते हैं उनसे मनोरंजन न होकर मन दूषित एवं विकृत होता है। हम सब विशेष रूप से बच्चे इसके शिकार हैं। टेलीविजन धारावाहिकों में मार-धाड़, अपराध, यौनाचार, से सम्बन्धित दृश्य हमारे मन विशेष रूप से बच्चों के मन को गहराई से प्रभावित एवं दूषित करते हैं।

८.२ यज्ञमय जीवन

मंगलाचरण में प्रयुक्त `यजत्राः' शब्द का आशय है कि हम यज्ञ करने वाले बनें। हमारे जीवन में यज्ञ की अवधारणा हो। हम प्रत्येक कार्य यज्ञ-बुद्धि से करें। यज्ञ के कुछ नियम होते हैं। इन नियमों का पालन करते हुए हम विधिपूर्वक यज्ञ करें। यज्ञ की तरह हम जीवन को एक विधि से जीयें। हमारा खाना यज्ञ हो, हमारा सोना यज्ञ हो, हमारा चलना यज्ञ हो, हमारा बोलना यज्ञ हो। हम क्या बोलें? क्या पढ़ें? क्या सुनें? ये सब शास्त्र सम्मत हो। कुछ भी अग्नि में डाल देने से हवन नहीं हो जाता। जिस प्रकार निर्धारित हवन सामग्री से विधिपूर्वक हवन करना ही यज्ञ होता है। उसी प्रकार हमें इहलोक तथा परलोक के कल्याण हेतु शास्त्र सम्मत आचरण ही करना चाहिये। इस प्रकार यजत्र होकर

देवताओं को हम प्रसन्न करें। हमारी आयु देवहित में लगे। हम देवताओं के हित के लिए यज्ञ करें। हम इन्द्रियों के देवताओं को प्रसन्न करें और वे हमें प्रसन्न करें। भगवान श्रीकृष्ण की वाणी श्रीमद् भगवद्गीता में भी यही कहा गया है:

सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः।
अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक्॥3/१०॥

(प्रजापति ब्रह्मा ने कल्प के आदि में यज्ञसहित प्रजाओं को रचकर उनसे कहा कि तुम लोग इस यज्ञ के द्वारा वृद्धि को प्राप्त होओ और यह यज्ञ तुम लोगों को इच्छित भोग प्रदान करने वाला हो।)

देवान्भावयतानेन ते देवा भावयन्तु वः।
परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ॥3/११॥

(तुम लोग इस यज्ञ के द्वारा देवताओं को उन्नत करो और ये देवता तुम लोगों को उन्नत करें। इस प्रकार निःस्वार्थ भाव से एक दूसरे को उन्नत करते हुए तुम लोग परम कल्याण को प्राप्त हो जाओगे।)

भाव यह है कि हम देवताओं को तृप्त करें और वे देवता हमें तृप्त करें। एक दूसरे के प्रतिसहयोग ही यज्ञ है। वस्तुतः हम दोनों तृप्त हों, तो ही यज्ञ है। पति-पत्नी, भाई-बहिन, बेटा-बाप, मालिक-नौकर एक दूसरे को प्रसन्न करें।

इस सन्दर्भ में एक कथा प्रचलित है जो आपने सुनी होगी। एक बार देवताओं एवं राक्षसों को निमन्त्रण दिया गया। राक्षस कहते थे कि हमारे साथ धोखा किया जाता है, देवताओं का ज्यादा ख्याल रखा जाता है। ब्रह्माजी ने कहा कि वे ऐसा नहीं करते। हमारी तरफ से बेईमानी नहीं है। ये तो अपनी तरफ़ से ही है। नहीं माने तो उन्होंने (ब्रह्माजी ने) निमन्त्रण दिया। आधे में देवताओं को और आधे में राक्षसों को बैठाया। दोनों के बीच में एक दीवार थी। सबके आगे गुलाबजामुन, खीर, पूरी, सब्जी, हलवा सब थालियों में परोस दिया गया। सबको खाने को कहा गया। सबके हाथों में प्लास्टर की तरह बाजुओं में डंडा बाँध दिया गया जिससे हाथ न मुड़ सकें। हाथों के न मुड़ने के कारण भोजन करना कठिन था। इस पर राक्षसगण क्रोधित हो गये। उनकी आँखें लाल हो गयीं तथा गाली देने लगे। दूसरी ओर देवताओं ने हाथ न मुड़ने के कारण सीधे हाथ करके अपने से दायें और बायें बैठे देवताओं को भोजन करा दिया। इस प्रकार सभी देवताओं ने अपने से अन्य की सहायता करके भोजन सम्पन्न कर लिया। देवता भोजन करके प्रसन्नचित्त लौटे।

· ज़िन्दगी का यह सूत्र है कि तुम दूसरों को खुश करो, वे तुम्हें खुश करें।

सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु माकश्चिद्दुःख भाग्भवेत्।

परन्तु ऐसे लोग भी होते हैं जो सोचते हैं कि हमारा ही पेट भरना चाहिए। "मेरा पेट आऊ, हम न देंगे काहू।" हम खाएंगे, हम किसी को नहीं देंगे। इसी प्रकार हम बड़े होंगे और अन्य को नहीं होने देंगे। सब अपने-अपने होने में लगे हैं। तुमने मेरी चोरी की, मैंने तुम्हारी चोरी की। देना भूल गया और चोरी शुरू हो गई। 'हम तुम्हें दें, तुम हमें दो' यह सहयोग की भावना नहीं रही। "हम तुम्हारा छीनें, तुम हमारा छीनों" वाली आपा धापी से चोर पैदा हो गए। चोर बनाने वाला ज्ञान वेद-विरुद्ध ज्ञान है जबकि दानी बनाने वाला ज्ञान वेद सम्मत ज्ञान है।

इसलिए याज्ञिक होकर हम स्थिर अंगों से देवताओं को प्रसन्न करें और देवता हमको प्रसन्न करें। हम जानवरों को स्वस्थ और सुखी रखें और जानवर हमारे काम आयें। हम कार की हिफाज़त करें, service कराएँ, साफ रखें, कार हमें जहाँ जाना है तहाँ ले जाए। कहीं भी देख लो यज्ञ के नियम से ही सृष्टि चलती है। इसलिए सम्पूर्ण सृष्टि भगवान ने यज्ञ के साथ ही पैदा की है।

यज्ञ के साथ परमात्मा ने दुनिया बनाई है। जो यज्ञ का ध्यान नहीं रखेंगे उनके परमार्थ एवं व्यवहार दोनों ही बिगड़ेंगे। इन मंगलाचरणों के साथ अन्त में कहा गया

स्वस्ति न इन्द्रो वृद्धश्रवाः स्वस्ति नः पूषा विश्ववेदाः।
स्वस्ति नस्तार्क्ष्योऽरिष्टनेमिः स्वस्ति नो बृहस्पतिर्दधातु॥

सभी देवता हमारा कल्याण करें, हमारी वृद्धि हो, अभ्युदय हो, शरीर स्वस्थ हो, मन शान्त हो। हम राग द्वेष रहित हों। लौकिक जीवन भी अच्छा हो और अन्त में कल्याण भी हो। हमारे यहाँ एक ही प्रार्थना नहीं है। प्रार्थना में जहाँ एक ओर लौकिक वृद्धि एवं स्वास्थ्य आदि की भावना है वहीं मोक्ष की आवश्यकता पर भी जोर दिया गया है।

'ईशावास्योपनिषद्' ने अकेले मोक्ष चाहने वालों को बहुत खतरनाक कहा है। अकेले भोग कर जाने वाले तो खतरनाक हैं ही, मोक्ष वालों से भी खतरा है। इसलिए एकतरफा नहीं होना। दोनों पक्षों का सन्तुलन एवं समन्वय परम आवश्यक है। गीता सन्तुलन

का ग्रन्थ है। वह तराज़ू की तरह दोनों पक्षों (व्यवहार एवं परमार्थ) को रखती है। गीता किससे निकली है? उपनिषदों से। भगवान ने कहा

– सर्वोपनिषदो गावो, दोग्धा गोपालनन्दनः।
पार्थोवत्सः सुधीर्भोक्ता गीतामृतं महत्।।

उपनिषद गायें है। एक गाय (माण्डूक्योपनिषद) अभी आपने देखी है, जिसका दूध (कथा श्रवण) इन सात दिनों में आपने पीया है। परन्तु यह दूध (अर्थात ब्रह्मचर्चा) सीधा उपनिषद से निकला है। उपनिषद गायें है। गीता दूध है। दोहने वाले कृष्ण है। "पार्थो वत्सः" अर्जुन बछड़ा है। उसने पूछ-पूछकर सारा उपनिषदों का ज्ञान निकलवा लिया। "सुधीर भोक्ता" सज्जन, बुद्धिमान पुरुष उस उपनिषद ज्ञानमृत रूपी दूध को पी रहे है। इस प्रकार उपनिषदों से गीता निकली। उपनिषदों से ही सन्त ग्रन्थ निकालते है। कभी-कभी पता भी नहीं होता कि अमुक प्रवचन अथवा ग्रन्थ उपनिषदों का है। बहुत लोगों ने उपनिषदों का नाम नहीं लिया, वेदों का नाम नहीं लिया, ग्रन्थ का नया नाम रख दिया परन्तु इसका मतलब यह नहीं है कि वह ज्ञान उपनिषद और वेदों से बाहर का ज्ञान है।

> दुनिया में ऐसा कोई ज्ञान नहीं है जो वेद से बाहर का हो। वेद सभी विद्याओं एवं ज्ञान के भण्डार है।

माण्डूक्योपनिषद को और अधिक स्पष्ट करने के लिये ऋषियों विशेष रूप से श्री गौडपादाचार्यजी ने कारिकाएं लिखी है। इसमें एक प्रकरण है "अलातशान्ति प्रकरण।" "अलात" अर्थात मशाल या जलता हुआ तिनका। रात्रि में जब आग लगा हुआ तिनका घुमाते है तो वह गोला बनता है। यदि सीधे चलाये तो लकीर बन जाती है। यदि तीन ओर घुमाये तो त्रिकोण बन जाता है। इसी प्रकार लम्बा गोला भी बनता है, ठीक गोला भी बनता है। इसी के द्वारा गौडपादाचार्यजी ने यह सिद्ध किया है कि 'वहां गोला नहीं बन सकता।' गोला बनाना असम्भव है क्योंकि तिनका कभी भी चारों तरफ एक समय पर नहीं हो सकता। कम समय में भी चारों तरफ हो सकता है। परन्तु एक ही समय पर यहां और वहां एक साथ नहीं हो सकता। जब एक समय में यहां और वहां नहीं था तो सीधी रेखा दिख नहीं सकती। जिस प्रकार एक समय में तिनका चारों तरफ नहीं होता, उसी प्रकार आग भी एक समय में चारों तरफ एक साथ नहीं होती। यहां होगी तब वहां नहीं और वहां होगी तब यहां

नहीं। एक जगह से चला गया तो दूसरी जगह खाली हो गई। फिर पूरे गोले में तिनका कहाँ होता होगा? एक तरफ और दिखता है कई ओर। इसलिये दिखता है पर होता नहीं। इस प्रकार बिना हुआ गोला दिखता है। अजन्मा अर्थात बिना जन्मा गोला दिखता है। बिना बने गोला दिखता है। बन तो सकता ही नहीं। इसलिए जो आकृतियाँ दिखती हैं, वे होती नहीं हैं। दिखने वाले गोले की तरह यह सम्पूर्ण सृष्टि माया से, चित्त की गति से, चित्त के स्फुरण से दिखती है। जब चित्त का स्फुरण शान्त हो जाता है तो जगत नाम की कोई चीज दिखती नहीं है। इसलिए जगत दिखते हुए भी वास्तविक नहीं है। अलातशान्ति प्रकरण में यही सिद्ध करने की कोशिश की गई है ताकि हमारे मन में भरोसा आ जाए और जिससे चित्त बचना चाहता है उससे बच सके तथा संकल्प-रहित हो जाए। चित्त के संकल्प के कारण आपके दुःख और समस्याएँ हैं। इसीलिए "मन एव मनुष्याणाम् कारणं बन्ध मोक्षयोः" कहा गया है।

मैंने एक कथा पढ़ी थी कि एक आश्रम में एक झंडा लगा था। हवा चल रही थी और झंडा हिल रहा था। झंडा हिलता दिखाई दिया। इस पर एक ने कहा, "झंडा हिलता है।" दूसरे ने कहा, "झंडा नहीं हिलता, हवा हिलती है।" उसने भी ठीक देखा। तीसरे ने कहा, "न झंडा हिलता है, न हवा हिलती है आपका मन हिलता है।"

> असल में जब मन के कम्पन शान्त हो जाते हैं, चित्त की वृत्तियों का निरोध हो जाता है तो जगत में दुःख नाम की कोई चीज नहीं बचती। कल्पना ही जगत है और मन जब जगताकार फुरता है तब जगत दिखता है। स्वप्न में मन ही तो फुरता है। मन के अतिरिक्त स्वप्न में कुछ भी नहीं होता और दिखता सब कुछ है। ऐसे ही माया से यह जगत भासता है जबकि वास्तविक कुछ नहीं है।

पहले मन्त्र में यह स्पष्ट किया कि यह सब ॐ है। जो भूत, वर्तमान तथा भविष्य में है सब ॐ है। इसके अतिरिक्त जो दिखाई नहीं देता वह भी ॐ ही है। आत्मा के तीन पाद- जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति, विश्व, तैजस, प्राज्ञ तथा तुरीय को बताया। तुरीय के विषय में समझाया गया कि यह विश्व, तैजस एवं प्राज्ञ नहीं है। इनमें वह (तुरीय) रहता है। जो इन तीनों में एक जैसा रहता है, वही तुरीय हैं। तदुपरान्त बताया गया कि ॐ ही पाद है। पाद ही मात्रा है और मात्रा ही पाद है। ॐ ही आत्मा है, आत्मा ही ॐ है।

८.३ उपनिषद् विद्या निम्नस्तरीय सत्य (जगत् एवं अवस्थात्रय) को स्वीकारते हुए उच्चतम सत्य की ओर ले जाती है

यदि कोई ज्योतिषी हमारे भूतकाल के जीवन की घटनाओं का बता दे तो हमें उस ज्योतिषी पर भरोसा हो जाता है और उसके द्वारा बतायी गयी भविष्य की बातों पर विश्वास कर लेते हैं। वैसे ही उपनिषद् हम सभी के द्वारा अनुभव की हुई जाग्रत, स्वप्न एवं सुषुप्ति की व्याख्या करता है। तदुपरान्त जिसका अभी हमें ज्ञान नहीं है परन्तु जिसे हम जानना चाहते हैं वह बताता है। इस प्रकार उपनिषद का प्रारम्भ सत्य से होता है और वह परम सत्य तक ले जाता है।

कई धर्मग्रन्थों में बताया जाता है: "वहाँ नरक है, वहाँ नरक कुण्ड है, वहाँ आरे चलते हैं" आदि-आदि। यानि शुरुआत ही अन्धविश्वासों एवं पाखण्डों से होती है। कुछ चालाक लोग समाज को अन्धविश्वास की बातें बताकर अपनी दुकान चलाते हैं। मूर्ख आदमी चेला बनकर उनकी दुकान के ग्राहक बन जाते हैं। उपनिषद् ऐसे सभी दुकानदारों की दुकानें समाप्त करते हैं। इसलिये ब्रह्माकुमारियाँ उपनिषदों का खण्डन करती हैं। जिन्हें धूर्तता करनी हो तथा अपना पन्थ चलाना हो उन्हें उपनिषदों का ही खण्डन करना पड़ेगा। परन्तु उपनिषदों में अन्धविश्वास एवं पाखण्ड के लिए कोई स्थान नहीं है। वे पहले उस व्यवहारिक सत्य की बात करते हैं जो आपके अनुभव में आये हैं। फिर उस परम सत्य की बात करते हैं जो आपको अनुभव करना है।

पहले सापेक्ष सत्य, फिर निरपेक्ष सत्य - उपनिषद् इन दोनों सत्यों का वर्णन करता है। इसलिये उपनिषद् जैसा अद्वितीय स्पष्ट ग्रन्थ दूसरा नहीं है।

एक साधक ऋषि से पूछता है,

"तं को औपनिषदं पुरुषं प्रच्छामि।"

(मैं तुमसे औपनिषद पुरुष अर्थात जिस पुरुष को उपनिषद् ने बताया है, वह मैं आपसे सुनना चाहता हूँ।)

"औपनिषद पुरुष अर्थात उपनिषद् ने किसे आत्मा कहा है? उपनिषद् ने किसे सत्य कहा है? उसे मैं आपसे सुनना चाहता हूँ।" अन्य धर्मों में जो यह बताया जाता है कि "हम जीव हैं, हम अमुक हैं हम मर जायेंगे" मैं यह नहीं पूछना चाहता हूँ। उपनिषद् का सत्य क्या है? - मैं यह पूछना चाहता हूँ।

परन्तु आपकी स्थिति भिन्न है। आप तो किसी भी बाबा की बात सत्य मानकर मूढ़ बने रहते हो और सत्य को जानने की चेष्टा नहीं करते। एक लड़के द्वारा यह चिल्लाने पर कि "कौआ मेरा कान ले गया" गाँव की भीड़, कौए के पीछे दौड़ने लगी। किसी भी व्यक्ति ने यह नहीं पूछा कि कौआ किसका कान ले गया? एक थोड़ समझदार व्यक्ति के पूछने पर कि "कौआ किसका कान ले गया?" सभी एक दूसरे से यही पूछने लगे। अन्त में जो लड़का चिल्लाया था उससे पूछने पर पता चला कि कौआ उसका कान तो नहीं ले गया था परन्तु जल्दी में पंजा लगने के कारण उसे कान ले जाने का भ्रम हो गया था। चूँकि उसके पीछे लोग भाग रहे थे इसलिये वह भी भागता रहा। इस प्रकार भागने वाले लोगों का एक जुलूस बन गया। हमारी हालत भी लगभग इसी प्रकार की है। हम चिल्लाने वाले लोगों की बात मान लेते हैं। सत्य को जानने के लिये अपनी बुद्धि का प्रयोग नहीं करते।

इसलिये अध्यात्म में हमें सबकी बात नहीं माननी। यदि हम मोक्ष चाहते हैं, कल्याण चाहते हैं तो उपनिषद् की बात सुननी है। वही चर्चा सुनने लायक है। परन्तु इस सन्दर्भ में महत्वपूर्ण बात यह है कि

उपनिषद् पहले पढ़ना नहीं चाहिये, पहले सुनना चाहिये। उपनिषद् विद्या गुरुग्रहणीय विद्या है

उपनिषद् में कहा गया है।

'श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः।'

यदि उपनिषद् को स्वयं पढ़ोगे तो तुम्हारी समझ में नहीं आयेगा। जो लोग केवल कर्मी हैं अर्थात कर्म में ही जिनकी निष्ठा है, कोई ज्ञान ध्यान नहीं है, उनको स्वयं वेद नहीं पढ़ना चाहिये। जिन्होंने वेद पढ़ा है, समझा है, जो ब्रह्मनिष्ठ हैं, उनसे पहले सुनें। पहले उनसे समझकर कल्याण के रास्ते पर चलें। उपनिषद् विद्या को केवल पढ़ने मात्र से लाभ नहीं मिलेगा। पढ़ने से यह विद्या समझ में नहीं आयेगी। इसलिये कहा गया कि ब्राह्मण अर्थात्

जिज्ञासु भी पहले इस विद्या को गुरु से पढ़े। फिर बाद में स्वयं ही पढ़ता रहे। जो अपने मन से पढ़ते हैं, वे गुमराह हो जाते हैं, भटक जाते हैं। यह विद्या गुरु मूला है। इसलिए गोस्वामी तुलसीदासजी ने कह दिया -

गुर बिनु भव निधि तरइ न कोई।
जौं बिरंचि संकर सम होई॥

गुरुवाणी में कहा गया है:

जो सो चन्दा उगवे, सूरज चढें हजार।
एते चाँदड़ होण्या, गुरु बिन घोर अंधार॥
गुरु बिन घोर अंधार, गुरु बिन समझ न आवै।
गुरु बिन सुरति न सिद्ध, गुरु बिन मुक्ति न पावै॥

इसलिये यह विद्या गुरुओं से पढ़ी जाती है।

८.४ गुरु कौन?

सामान्य रूप से आम व्यक्ति यह मानते हैं कि जिससे गुरु दीक्षा (मन्त्र) ली जाती है वही गुरु होता है। परन्तु मेरी दृष्टि में हम जिससे पढ़ते हैं उसका नाम भी गुरु है। बिना गुरु मंत्र लिये भी जो उपनिषद् सुनता है, वह शिष्य है और जो सुनाता है वह गुरु है। उपनिषद् की पावन वाणी को सुनने में गुरु बनाने वाला मामला कोई विशेष महत्व नहीं रखता। जिस ब्रह्मनिष्ठ एवं श्रोत्रिय गुरु पर आपकी श्रद्धा हो, उसे गुरु के रूप में स्वीकार करना है। वही आपके गुरु है।

अर्जुन, भगवान कृष्ण को गुरु स्वीकार करता है, बनाता नहीं। वह कहता है :

कार्पण्यदोषोपहतस्वभावः
पृच्छामि त्वां धर्मसम्मूढचेताः।
यच्छ्रेयः स्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे
शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम्॥2/6॥

(कायरता रूप दोष से उपहत हुए स्वभाव वाला तथा धर्म के विषय में मोहित चित्त हुआ मैं आपसे पूछता हूँ कि जो साधन निश्चित कल्याणकारक हो, वह मेरे लिये कहिये क्योंकि मैं आपका शिष्य हूँ। इसलिये आपके शरण हुए मुझको शिक्षा दीजिये।)

इस प्रकार अर्जुन "मैं आपका शिष्य हूँ, मुझे समझाओ" यह कहता है। "मंत्र दो" - ऐसा नहीं कहता। "मैं आपकी शरण में हूँ, आपके पास आया हूँ। मेरा अज्ञान नष्ट करो। मेरे भ्रम को हटाओ।" ऐसा कहता है।

आप तो मंत्र दीक्षा लेकर गुरु बनाते हैं। जो गुरु बनाता है, वह ज्यादातर बेवकूफ ही बनाता है। गुरु तो बना ही नहीं सकता। जो गुरु नहीं है उसे तुम क्या बनाओगे? गुरु को तो केवल गुरु मानना है, बनाना नहीं। कई लोग शिकायत करते हैं कि गुरु हमें मूर्ख बनाते हैं। मैंने कहा, "आप हो। अन्यथा कोई बेवकूफ कैसे बनायेगा? बिना हुए कोई बेवकूफ कैसे बना सकता है?" तो आप गुरु कैसे बनाओगे? यदि अमुक व्यक्ति गुरु है तो फिर आप उसे बनाना मत कहो। 'वे हैं' यह स्वीकार कर लो।

तर्क की सार्थकता एवं निरर्थकता : तर्क में बड़ी क्षमता होती है। परन्तु तर्क सार्थक भी हो सकता है एवं निरर्थक भी। यदि तर्क सत्य को समझने के लिए किया जाये तो यह बहुत उपयोगी होता है। यदि तर्क का उद्देश्य वकीलों की तरह केवल दूसरे की बात को काटने के लिए ही किया जाता है तो वह अध्यात्म विद्या के लिए उपयुक्त नहीं होता। संक्षेप में कहा जा सकता है कि तर्क के पीछे निहित उद्देश्य पर उसकी सार्थकता एवं निरर्थकता निर्भर करती है।

८.५ आत्मा के तीन पाद एवं सार्वभौमिक धर्म के रूप में सनातन (हिन्दू) धर्म

जागना, सोना, एवं स्वप्न देखना - ये तीन अवस्थायें कब से प्रारम्भ हुईं? जब से मानव सृष्टि की रचना हुई। क्या ये कलियुग में शुरु हुईं? नहीं। क्या इनको नास्तिकों, नेताओं, वामपंथियों अथवा बाबाओं ने शुरु किया? नहीं। सोना, स्वप्न तथा स्थूल जगत में दिखने लगना ये किस मजहब की कथा है? क्या हिन्दुओं की? नहीं। तो फिर क्या ये उपनिषद् हिन्दुओं के हुए? क्या जागने सोने एवं स्वप्न की अवस्थायें अन्य धर्मों जैसे जैन, बौद्ध, सिक्ख, ईसाई, मुसलमान आदि के मानने वालों पर घटित नहीं होतीं। इस पृथ्वी पर कोई ऐसा मानव है जिस पर ये लक्षण घटित न होते हों? तो फिर यह उपनिषद किसका है? सम्पूर्ण मानव जाति का है।

तथाकथित मानवतावादी कहते हैं कि हिन्दू साम्प्रदायिक है। हम मानवता की बात करते हैं। मैं पूरी निष्ठा एवं मजबूती से कहता हूँ कि हिन्दू धर्म सार्वभौमिक धर्म है। इतना व्यापक विश्व में कोई दूसरा धर्म नहीं है। हमारा दर्शन बहुत व्यापक है। उपनिषद् सत्य की व्याख्या करते समय हिन्दू, मुसलमान, पारसी, ईसाई, नेता, अभिनेता, स्त्री-पुरुष, आदि की बात नहीं करता। वह तो उस सत्य का सीधा वर्णन करता है जिसका प्रत्येक व्यक्ति जीवित रहते हुए स्वयं साक्षात्कार कर सकता है।

धर्म के नाम पर कितना दुष्प्रचार किया जा रहा है। कई मजहबों में यह बताया जाता है कि पशुओं में आत्मा नहीं होती। पशु तो खाने के लिये सब्जी-भाजी हैं। ईसाई एवं मुसलमान जानवरों को आत्मा वाले प्राणी नहीं मानते अपितु इनकी पूजा करने वालों को काफिर कहते हैं। यदि उपनिषद् विद्या तुम्हें सत्य लगे तो इसका पूरे देश में प्रचार करने का उत्तरदायित्व भी तुम्हारा है। जो नेता वेद को, सरस्वती वन्दना को गलत कहते हैं उनका पूरी शक्ति के साथ विरोध करना हमारा दायित्व है।

स्त्रियों को मुसलमान मस्जिद में नहीं ले जाते। नमाज नहीं पढ़ाते। क्योंकि उनकी नजर में स्त्री भी भोग की सामग्री है। उसके कोई आत्मा नहीं होती। परन्तु इस विषय पर उनके प्रति कोई विरोध प्रदर्शित नहीं किया जाता, क्योंकि राजनीतिक दलों को उनसे वोट लेने होते हैं और उनका वोट इकट्ठा होता है। मेरी दृष्टि में इस्लाम के समान दूसरा कोई असहिष्णु एवं अमानवतावादी धर्म नहीं है। वहाँ धर्म नहीं है, केवल भौतिकता है। उनके भौतिकवाद का सन्देश यही निकलता है कि खाओ और पिओ। स्त्रियों का इस्तेमाल करो। जब चाहे रख लो, जब चाहे तलाक दे दो। नेताओं को यह सब ठीक लगता है क्योंकि उन्हें मुसलमानों के वोट चाहिये। स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद इस देश में लम्बे समय तक शासन करने वाले राजनीतिक दल ने मुसलमानों को महज वोटर के रूप में माना तथा देश का नागरिक मानकर उन्हें नहीं सोचा गया। राष्ट्रहित को भी ध्यान में नहीं रखा गया।

उपनिषद् हिन्दू की आत्माओं की कथा नहीं कहता। वहाँ आत्मा की कथा है, हिन्दू मुसलमान की नहीं। ईमानदार मुसलमान, ईमानदार ईसाई, ईमानदार नेताओं को चाहिये कि वे उपनिषद विद्या को सत्य प्रमाणित समझकर सभी पाखंडों को समाज से हटा दें। क्योंकि उपनिषद राम, कृष्ण की कथा, नहीं कहते। वे किसी जाति या मजहब का नाम नहीं लेते। वे तो सीधे-सीधे परम सत्य (परमात्मा) का वर्णन कर रहे हैं। इसलिये मैं कहता हूँ कि उपनिषद् साम्प्रदायिक ग्रन्थ नहीं हैं। दाराशिकोह बादशाह ने उपनिषदों का अनुवाद उर्दू में कराया था। परन्तु इमामों एवं वोट बैंक की राजनीति करने वाले राजनीतिज्ञों के बहकावे

आजकल के कट्टरपंथी मुसलमान हिन्दू को काफिर तथा साम्प्रदायिक कहते हैं। जब राजनीतिक नेता हिन्दुओं को साम्प्रदायिक कहते हैं तो कट्टरपंथी मुसलमान को बहुत अच्छा लगता है।

> मेरी दृष्टि में जो सत्य का आदर नहीं करते वे ही साम्प्रदायिक हैं और जो सत्य का आदर करते हैं वे असाम्प्रदायिक हैं।

संविधान सत्य को देखकर बनाना चाहिये, राजनैतिक लाभ के आधार पर नहीं। ऐसे सभी संविधान जो सत्य की उपेक्षा करके वोट को लक्ष्य मानकर राजनीतिक लाभ हेतु बनाये जाते हैं, उन्हें आग लगा देनी चाहिये। यदि ऐसा बोलने में फाँसी होती हो तो मैं उसके लिये सहर्ष तैयार हूँ।

८.६ जीवन के कल्याण हेतु शास्त्र एवं संस्कृति का महत्व

जो तुम्हारा भाई होता है उसे भाई मानते हो, बहन को बहन मानते हो, पिता को पिता मानते हो और इतनी दृढ़ता से मानते हो कि वे मृत्यु पर्यन्त तक तुम्हारे भाई, पिता, बहन, माँ, आदि लगती हैं। यहाँ तक कि इस दृढ़ मान्यता से प्रकृतिजन्य स्वभाव में विजय प्राप्त होती है। इस सम्बन्ध में एक उदाहरण देना चाहुंगा। आप जवान बेटे हो, आपकी माँ है। कभी-कभी बेटा रात्रि में माँ के साथ लेटता है। काफी सयाना है। वह इतना सयाना है कि और लड़की के साथ नहीं लेट सकता। यदि लेटेगा तो खतरा है। पर अपनी माँ के साथ? कोई खतरा नहीं। क्यों? क्योंकि वह माँ है और माँ ख्याल में है। भौतिक कसौटी में जानवर के मन को माँ नाम की चीज़ काम से नहीं रोक पाती। पर मनुष्य के मन को माँ की समझ एवं भावना काम से बचा लेती है। क्या यह भौतिक जगत पर विजय नहीं है? प्रकृति पर विजय नहीं है। प्रकृति के हिसाब से १८ साल का बच्चा रात को अकेले में अपनी माँ के साथ लेटा है। क्या आप कभी रात, बे-रात सफर में अपनी माँ के साथ अकेले नहीं रहे? किसने बचाया था? किस विज्ञान ने? मन ने और कैसे मन ने? शास्त्र से, संस्कृति से शिक्षित मन ने। इस प्रकार संस्कृति एवं संस्कार से शिक्षित मन जवानी को रोक

लेता है, प्रकृति के नियम को रोके हुए है। आप यह जानते हो कि बहुत बार मेरे मन में पड़ा इस प्रकार का संस्कार मेरे व्यवहार में वह परिवर्तन लाया जो जानवर 100 जन्मों तक नहीं ला सकता। उसी प्रकार मेरे मन में आत्मा के ज्ञान का संस्कार मुझे मुक्त कर देता है, गुणातीत कर देता है।

इस याद से कभी सोचो। बेटियों सोचो, आपके पिता हैं। क्या पिता के साथ अकेले नहीं जाती हो? नहीं रहती हो? अन्धेरे में नहीं? फिर? क्या हड्डी-माँस और तरह का है? वैज्ञानिकों से पूछो। हड्डी-माँस आदमियों का है और विपरीत लिंग (Opposite Sex) का सिद्धांत है कि स्त्री को पुरुष से खतरा तथा पुरुष को स्त्री से खतरा है। लेकिन पुरुषों को माँ से क्यों नहीं है? और स्त्रियों को पिता से क्यों नहीं है? हाँ, जब भारतीय संस्कृति एवं शास्त्रों के ये संस्कार शिथिल हो जाएंगे तो फिर सब कुछ सम्भव है। अर्थात संस्कार में इतना बड़ा बल है कि प्रकृति पर विजय दिलाने में सक्षम है। मौत, बुढ़ापा, जन्मना, जागना, सोना सब प्रकृति है।

तुरीय तत्त्व के संस्कार जिस बुद्धि में पड़ जाएंगे उसके यहाँ मौत भी ख्याल मात्र है। वहाँ कुछ भी नहीं है। इसलिए इस तुरीय आत्मा का संस्कार ही मुक्ति दे सकता है। प्रकृति से पार कर सकता है।

गीता में भगवान कृष्ण ने कहा थाः

त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन।
निर्द्वन्द्वो नित्यसत्त्वस्थो निर्योगक्षेम आत्मवान॥२/४५॥

(हे अर्जुन! वेद तीनों गुणों के कार्यरूप समस्त भोगों एवं उनके साधनों का प्रतिपादन करने वाले हैं। इसलिए तू उन भोगों एवं साधनों में आसक्तिहीन, हर्ष शोकादि द्वन्द्वों से रहित, नित्यवस्तु परमात्मा में स्थित योग-क्षेम को न चाहने वाला और स्वाधीन अन्तःकरण वाला हो)

पहले तो वेद तीन गुणों की बात करता है। ये माँ-बाप की संस्कृति भी वेद की है। पर ये तीन गुण की है। तुम पिता हो, माँ हो। अभी ब्रह्मचारी हो, फिर गृहस्थ हो, फिर वानप्रस्थ; पर अन्त में संन्यासी - ये सब वेद की संस्कृति है। 'तुम ब्राह्मण हो, क्षत्रिय हो' - इसलिए तुम्हें माँस नहीं खाना चाहिए। माँ का संस्कार मुझे जवानी में भी स्त्री के रूप में माँ से बचा लेता है। आपके (लड़कियों के) पिता का शरीर पुरुष का है

परन्तु पिता के संस्कार से कोई खतरा नहीं होता। इसी प्रकार ब्राह्मण को मांस, शराब और बुराई कभी नहीं आती थी क्योंकि 'वह ब्राह्मण है।' उसके मस्तिष्क में यह संस्कार और अभी मैं 'अविवाहित हूँ' ये उसको पतित होने से बचा लेते हैं। इसलिए वह ब्रह्मचारी रहता था। जो शास्त्र को मानता है वही बुराई से बच सकता है। जो शास्त्र की उपेक्षा करता है वह निश्चित पतित होगा, बरबाद होगा। गीता का निम्न संदेश उपनिषद के इसी वचन की पुष्टि करता है:

यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते कामकारतः।
न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परांगतिम्॥

(जो पुरुष शास्त्र विधि को त्यागकर अपनी इच्छा से मनमाना आचरण करता है वह न सिद्धि को प्राप्त होता है, न परमगति को और न सुख को ही॥)

जो अपनी भारतीय संस्कृति को छोड़कर जीएंगे, उनके लिये कुछ दिनों बाद माँ-बहन, पिता तथा भाई के साथ भी रिश्ते खराब हो जाएंगे। विदेशों में खराब हो रहे हैं। जो भारतीय संस्कृति का पालन करेंगे उनके पारिवारिक रिश्ते ठीक रहेंगे।

कलयुग में यौवन आने पर कोई माँ एवं बहन को नहीं समझता।

'कोई मानत नहिं अनुजा-तनुजा।' अनुजा अर्थात् बहिन, तनुजा अर्थात बेटी। अभी लोग मानते हैं। जब कलियुग आएगा शास्त्र की उपेक्षा होगी, ऐसे कलियुगी नेता आएंगे, चलचित्रों का बोल-बाला होगा, भारतीय संस्कृति का ह्रास होगा तो अनुजा-तनुजा मानना बन्द हो जाएगा। अभी अनुजा-तनुजा का विश्वास आपको बचाए है। ध्यान रखना, यदि घर में भी सुरक्षित रहना है तो धर्म एवं शास्त्रों का विश्वास कायम रखना पड़ेगा अन्यथा घर में भी सुरक्षित नहीं रहोगे।

यदि शास्त्र विधि का त्यागकर मन में जो आया वही करने लगोगे तो अवश्य पतित होगे। यह लोक तथा परलोक दोनों ही बरबाद होंगे। यदि धर्म को नहीं मानोगे तो इसी ख्याल में रहोगे कि, 'हम पैदा हुए हैं, मर जाएंगे।' धर्म को मानोगे तो यह अनुभव कर पाओगे कि हम न पैदा हुए हैं, और न मरेंगे। बात तो इतनी सी है। इसलिए शास्त्र जीवन का आधार है। बिना शास्त्र के जीवन अन्धकार है। इसलिये कहा गया है

अन्धकार है वहाँ जहाँ आदित्य नहीं है,
मुर्दा है वह देश जहाँ साहित्य नहीं है।

जहाँ सत्संग नहीं है वहाँ तो मात्र भौतिक जगत है जो कुत्तों में भी है। वह देश जानवरों का ही देश होगा जहाँ वेद नहीं हैं, शास्त्र नहीं हैं, उपनिषद् नहीं है। इसलिए शास्त्र विधि का त्याग करके जो मन में आया वही कर लेते हैं, ऐसे लोगों की सांसारिक, भौतिक कामनाओं की पूर्ति भी ठीक नहीं होगी। बलात्कार करने वाले फाँसी पर लटका दिये गये, क्या उनकी काम वासना की पूर्ति हुई? अलौकिक मोक्ष तो जाने दो लौकिक सुख भी प्राप्त नहीं होंगे।

शास्त्र विधि छोड़कर मनमानी करने से जो लौकिक सुख मिलना चाहिए वह भी नहीं मिलेगा। छीना-झपटी लूट-मार होगी। मर्यादा तोड़ने से लड़ाई होगी। जैसे आजकल गुण्डों का राज्य है। इस प्रकार जीवन में सुख नहीं मिलेगा। मोक्ष, शान्ति, निश्चिन्तता, आत्मा भी प्राप्त नहीं होगी। इसलिए उपरोक्त का ध्यान रखते हुए आप जीवन को शास्त्र के अनुसार जीने का अभ्यास करें।

ॐ शान्तिः! शान्तिः!! शान्तिः!!!

अखण्ड परमधाम प्रकाशन द्वारा प्रकाशित साहित्य